अध्यात्म का पाञ्चजन्य

विमला ठकार

अध्यात्म का पाञ्चजन्य

विमला ठकार

विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट
अहमदाबाद

कृष्णकुटी; 5 थियॉसॉफ़िकल हाउ० सोसाइटी
दादा साहेब ना पगला, नवरंगपुरा
अहमदाबाद—380009

प्रथम संस्करण
1985

मूल्य : 12 रुपये

मुद्रक :
पारिजात प्रिण्टरी
राणिप, अहमदाबाद–5

निवेदन

राजकोट जिले में गढडा के समीप जसदण-तालुके में, प्रकृति-रमणीय किन्तु पिछड़े हुए ग्रामीण अञ्चल में १९८२ के अन्त में **गोपालधाम** नाम से एक ग्रामस्वराज्य-प्रशिक्षण-केन्द्र का बीजारोपण हुआ। श्र० "दीदी" के तत्त्वावधान में चलाये जाने वाले इस केन्द्र को गुजरात के प्रसिद्ध कर्मनिष्ठ श्री छेलभाई शुक्ल ने अपनी तपोभूमि बनाया। शुभकर्म में प्रभु के आशीष साथ रहते ही हैं। शीघ्र ही लगन और उद्यम वाले कुछ प्रशिक्षणार्थी जुट गये एवं मानो स्वावलम्बन-शिक्षण की नींव डालते हुए-श्री छेलभाई एवं इन अन्तेवासियों ने अपने हाथों केन्द्र के लिये उपयोगी मकान बनाने से प्रारम्भ किया। एप्रिल ८३ तक केन्द्र के मकान तैयार हो गये, ग्रामोपयोगी औद्योगिक प्रशिक्षण प्रारम्भ हो गया एवं प्रकट रूप से केन्द्र ने कार्यारम्भ किया। १९८३ नवम्बर में (दि. १८-२२) श्र. दीदी ने वहाँ ध्यानशिबिर लिया। गुजरात-भर से प्रायः सवा सौ जिज्ञासु सत्सङ्गी मित्र सम्मिलित हुए और वस्तुतः **अध्यात्म के पाञ्चजन्य** के निनाद से **गोपालधाम** (के निमित्त से समस्त अञ्चल) **गूँज उठा**। यह शिविर अतीव भावभरित एवं पावन स्पन्दनों से समृद्ध रहा।

इस शिबिर में हुए प्रवचनों को विमल-सत्सङ्ग-परिवार के ही (राजकोट निवासी) डॉ. श्री अमुभाई कारिआ ने ध्वन्यङ्कन में से लिपिबद्ध किया। उसी में से यह सङ्कलन प्रस्तुत है।

इस सङ्कलन में श्र. दीदी की वाणी की सहज-रमणीयता एवं प्रसाद को प्रायः ज्यों का त्यों पाठकों तक पहुँचाने (साक्षात् श्रवण जैसा आस्वादन पाने) की भावना है। इसलिये वीच-वीच में आते हुए अंग्रेजी वाक्य, गुजराती उद्धरण मूल रूप में ही रखे गये हैं।

छपते समय मुद्राराक्षस के अट्टहास में कहीं मात्राओं (ा ि ी ु ू े ो ' ',) तथा अक्षरों के भी झड़ जाने से एवं कहीं मेरे दृष्टि-प्रमाद के कारण जो रसभङ्ग होगा उसके लिये क्षमाप्रार्थिनी हूँ।

श्र० "दीदी" जो सुधा बरसा रही हैं, जिस स्नेहमयी करुणा से हमारे सत्व को जगा रही हैं वह सुधास्नेह जीवन-धरती में रसित-अंकुरित हो उठे यही प्रार्थना प्रभुचरणों में निवेदित है।

श्री रामनवमी (३०/३/८५) —ऊर्मिला

ॐ

अनुक्रमणिका

卐

दिन पाँच ही हैं। और फिर भी शिबिर के अंत में लगेगा कि एक दूसरे से जितनी बातें हम करना चाहते थे उतनी हो ही नहीं पायीं।

अपने देश की ख्याति है कि यहाँ के लोग बहुत बोलते हैं और बहुत जोर जोर से बोलते हैं। सामान्य रीति से एक दूसरे से बात ही नहीं कर पाते हैं, जैसे प्रतिस्पर्धी से बात कर रहे हैं। जैसे कोई हारने और जीतने की बात है उसमें। क्योंकि निवेदन नहीं हो पाता जो कहनी है बात संवाद के रूप में कह नहीं पाते हैं। हर बात को कहना याने assertion करना और वह assertion भी इतने aggressively, इतनी आक्रमणशील पद्धति से करना, कि पूछो न बात! यह है हमारी व्यवहार की पद्धति, यह है हमारा वाणी का विनियोग। बिना कारण बोलना, आवश्यकता नहीं उतने शब्दों का उपयोग करना, आवश्यकता नहीं है इस प्रकार के उच्च स्वर में बोलना, अतिशयोक्ति करना, अपनी ही कल्पनाओं को अपनी प्रतिक्रियाओं को सत्य घटना मान लेना, उनका आग्रह रखना यह जो केवल वाणी का व्यवहार देखें तो nuclear war से कम तो वह है ही नहीं। उससे शरीर मरते हैं और घायल होते हैं, यहाँ दिल घायल होते होंगे। सामान्य संवाद में भी अहंकार टकराते हैं, सामान्य संवाद में भी पक्षीय और प्रतिपक्षीय और प्रतिस्पर्धी बन जाते हैं। कैसा यह देश है जो आध्यात्मिक कहलाता है। और कैसी यह criminal waste of verbal power है। शब्द-शक्ति और वाणी की शक्ति का यह कैसा भीषण दुरुपयोग है।

मनुष्य को जितनी खाने की लालसा होगी, जितना कामविकार सताता होगा उतना यह वाणी का विकार सताता है। बोले बिना चैन नहीं। और मौन उसके लिये एक संकट बन जाता है। आवश्यक न हो वहाँ वाणी से निवृत्त होना, आवश्यक हो वहाँ संयम से काम लेना, यह उसके लिये एक धर्मसंकट हो जाता है। मैं मौन रखता हूँ। और घण्टे या दो दिन का मौन रखा कि तीसरे दिन टूट पड़े। इतना बोलेंगे, इतना बोलेंगे कि दो दिन का मौन तो बेचारा कहाँ बह गया पता ही न चले। जैसे दो दिन के उपवास के बाद खाते हैं। यह हमारी प्रकृति है। The tropical getup of psychological structure is very verbal and clutter with verbalisation. बोलते हैं अन्य देशों के लोग भी, लेकिन इस देश के लोगों जितना नहीं। देश शब्द से मुझे आगे बढ़ना चाहिये, श्रीलङ्का है, पाकिस्तान है, बांग्ला देश है, दक्षिण-पूर्व के देशों के इतने राज्य हैं, और थोड़े मध्यपूर्व के देश भी लिये जा सकते हैं। एक ऐसा भाग है संसार का।

इसलिये 'पांच दिन अधिक से अधिक आप मौन रहें'—यह जब कहती हूँ तो मुझे मालूम है कि आपके मन पर उसका दबाव आने वाला है। 'मौन रहना है'···'मौन रहना है'—जैसे कोई बहुत बड़ी बात करनी है। मौन स्वाभाविक होना चाहिए। आशा करती हूँ मैं कि पाँच दिनों में जितना अनिवार्य हो उतना बोलेंगे और बाकी फिर डुबकी लगायेंगे उस मौन में, उस शून्य में जहाँ से नाद का जन्म होता है और नाद की कलियों में शब्द के पुष्प खिलते हैं। बाकी तो अपने को मौका मिलनेवाला नहीं है उस मौन में डुबकी लगाने का। गहरी डुबकी लगाइये। डूब जाने का कोई डर वहाँ नहीं है। तो अपने भीतर नाद का जन्म होते हुए आप देख पायेंगे जैसे आप सूर्योदय को देख पाते हैं या चंद्रोदय को देख पाते हैं। नाद नाम की ऊर्जा का जन्म कैसे होता है, कहाँ होता है आप देख पायेंगे। और जब नाद संचार करने लगता है तो नाड़ियों पर उसका क्या परिणाम है, रक्तचाप पर क्या उसका परिणाम है, श्वासोच्छ्वास की गति के साथ नाद की गति का क्या संबंध है वह ध्यान में आयेगा। यह जो शून्य, नाद और शब्द — ऐसे सोपान हैं, इसका थोड़ा सा परिचय पाँच दिन में हो जायेगा तो आपको फिर चसका लग जायेगा मौन के रस का। एकान्त के रस का चसका आपको लग सके तो बड़ी प्रसन्नता होगी।

यह बात जैसे हुई मौन की, वैसे ही एकान्त की बात कहनी है। आये तो सौ-सवा सौ आदमी इकट्ठे रहने के लिये, लेकिन यहाँ भाई है, बहन है, पति है, पत्नी है, माता है, पिता है — बच्चे हैं इस नाते से नहीं आये। एक-एक व्यक्ति स्वतन्त्र जिज्ञासु के या साधक के नाते यहाँ पर आये हैं। घर पर आपकी जो हस्ती है वह स्त्री की है, पुरुष की है, पति की है, पत्नी की है, माता की, पिता की भाई की, बहन की। यहाँ आप आये हैं एक निपट मनुष्य के नाते, खालिस इंसान के नाते। यहाँ सम्बन्धों के आवरण लेकर आप नहीं आये हैं; नहीं आये होंगे ऐसा मैं मानती हूँ। सत्संग के लिये जब जाते हैं, सन्तों के पास जाते हैं, तीर्थक्षेत्रों में जाते हैं तो 'मैं' धनी हूँ, 'मैं' ज्ञानी हूँ, 'मैं' वकील हूँ, 'मैं' डॉक्टर हूँ यह सब अहंकार लेकर, इन अस्मिताओं को ले कर तो सन्तों के पास नहीं जाया जाता। अमीर होंगे अपने घर, विद्वान होंगे, पण्डित होंगे अपने घर; बड़े साधुचरित होंगे, बहुत पुण्य कमाया होगा अपने घर। संत के पास मनुष्यता की कीमत है। वहाँ जायें तो इन सभी उपाधियों को और आवरणों को अलग रख कर जाना चाहिये जिसमें उच्च-नीच का भाव आ सकता है, कम और अधिक की मात्रा हो सकती है, जिसमें सदाचार-दुराचार का, दुर्जन-सज्जन का, पापी-संत का भेदभाव हो सकता है। गंगाजी में जब नहाने जाते हैं तो कोई



मङ्गल—प्रवचन

दि. १८–११–८३ प्रात: ९.३०

[एक वर्ष पहले इस स्थान पर धरती के सिवा कुछ नहीं था। एक मकान भी नहीं था लेकिन अपने छेलभाई एक पुरुषार्थी जीवन-साधक हैं और उनके गढडा के साथी उनके जैसे ही सन्निष्ठ कार्यकर्त्ता हैं; उनके पुरुषार्थ के कारण आज यहाँ यह शिबिर हो पायेगा। परिसर इतना सुंदर है, ऋतु इतनी मनोहर है और यहाँ का प्रशान्तरम्य एकान्त इतना आकर्षक है कि मुझे विश्वास है चार-पाँच दिन का अपना सत्सङ्ग, ध्यान-मौनादि बहुत ही आनंदपूर्वक सम्पन्न होंगे।]

शिबिर के लिये बहुत उत्सुकता से उमंगभरे चित्त लेकर, पैसा-समय-शक्ति खर्च करके आप सब आये हैं। लेकिन सवाल है कि हममें से कितने लोग यहाँ के एकान्त का संग कर पायेंगे। यहाँ का जो परिसर है उसमें अवकाश का ऐश्वर्य है और आकाश की लुभावनी नीलिमा की मधुर संगति है। प्रभुकृपा से खेतों में भी कुछ हरियाली है। क्या इनका संग हम कर पायेंगे? या अपने घरों से अपने जीवन की जिम्मेवारियाँ, मुश्किलियाँ, सुखद और दु:खद स्मृतियाँ, इच्छाएँ, वासनाएँ, आकांक्षाएँ स्मरण—शक्ति की टोकरी में भर-भर के हम यहां लाए हैं? यह पहला प्रश्न है अपने आप से पूछने लायक। घर से चलते समय या यहाँ पहुँचने पर यदि पाँच दिन के लिये सभी जिम्मेवारियों से, चिंताओं से, कठिनाइयों के तनाव से, अतीत के भार से और भविष्य के आकर्षण से मुक्त होकर हम जी सकेंगे तो भाई ध्यानशिबिर में या सत्संग शिबिर में हम उपस्थित रहेंगे। नहीं तो शरीर होंगे यहाँ शामियाने में, गोपालधाम में, और मन भटकते होंगे अहमदाबाद, बड़ोदा, राजकोट, भावनगर, जामनगर में। आप देखियेगा, जहाँ चित्त है वहाँ ही आपकी चेतना है। जिसमें चित्त की रति है, आकर्षण है उसी में वह तल्लीन हो जाता है और बुद्धि की सारी कोशिशें उस चित्त को अन्य किसी स्थान के प्रति ले जाने में असफल रहती हैं। तो ऐसी कोई रस्साकशी आपके भीतर नहीं चलेगी न पाँच दिन? यह दूसरा सवाल अपने आपसे पूछने लायक है। If The mind is ruminating over the past, worrying about the future and is carrying tensions of numberless experiences then the physical presence here in the meditation camp will be of no consequence at all for the life.

कोई इसका परिणाम नहीं निकलेगा। फिर खेतों में घूमेंगे, आसपास की वे छोटी-छोटी पहाड़ियाँ हैं उन पर भी चले जायेंगे लेकिन मन बोझ लेकर घूम रहा होगा।

अनुरोध है सबसे कि पाँच दिन के लिये सच्चे शिबिरार्थी बन जाइयेगा। मानो संन्यास ले लिया हो, निःसङ्ग हो गये हों। गुफाओं में बैठने वाले, एकाकी विचरने वाले, प्रभुप्रेम में प्रमत्त कोई साधक हैं, भक्त हैं ऐसे यदि पाँच दिन के लिये आप हो पायेंगे तो आपको भी आनन्द आयेगा, मुझको भी आनन्द आयेगा। इतनी बार आपने मुझको सुना है और शिबिरों में आप रहे हैं कि वाणी के स्थूल शब्दों द्वारा आपके जानने लायक और मेरे निवेदन करने लायक विषय बहुत थोड़े होंगे। लेकिन यदि चित्त में तत्परता है, उन्मुखता है, संवेदनशीलता एकाग्र है तो परस्पर उपस्थिति में से कितने ही गंभीर रहस्य संक्रान्त हो जायेंगे। शब्दों के बिना, आपके पूछे बिना, मेरे बोले बिना प्रकाश संक्रान्त होता है, स्नेह संक्रान्त होता है, अनुभूतियों के स्पन्दन संक्रान्त होते हैं। लेकिन व्यक्ति सावधान हो तो! तत्पर हो, उन्मुख हो, तो यह घटित होता है। यह घटित हो इसके लिये यहाँ हम आये हैं। तो उन्मुखता, तत्परता, एकाग्र संवेदनशीलता की माँग है आपके पास। वक्ता और श्रोता या सत्सङ्ग करने वाले सत्सङ्गी हैं, इनके बीच सान्निध्य निर्माण हो और संवाद संभव हो यह बहुत जरूरी है। दो व्यक्ति एक कमरे में एक नहीं बारह घण्टे बैठे रहें, लेकिन दोनों के दिमाग और दिल अलग अलग दिशा में यदि घूमते हों तो कमरे में रहते हुए भी उनका एक दूसरे का सहवास नहीं घटित होता। अतः हम परस्पर सहवास में रह सकें, परस्पर का सत्संग कर सकें यह बहुत ज़रूरी है। प्रवचनों का उतना महत्त्व नहीं है, मिलन का महत्व है। उपस्थिति का सन्निधि का, सहवास का महत्त्व है। ये कोरे शब्द नहीं हैं, ये तथ्यों के प्रति संकेत हैं।

इसमें से यह मुद्दा निष्पन्न हुआ कि जब आप एक जगह रहेंगे निवास के लिये तो मोह होगा एक दूसरे से बातें करने का। और दलील होगी अपने आपसे और दूसरों के साथ कि इतने दिनों के बाद मिले हैं तो बातें नहीं करेंगे तो क्या मौन रहेंगे? समर्थन खोज निकालेगा मन और समर्थन खोज निकालेगी बुद्धि भी। और जब भीतर बोलने के लिये आतुरता है, लालसा है बोलने की तो निमित्त तो मिल जाते हैं। निमित्तों को ढूंढना नहीं पड़ता। तो क्या यह संभव है कि भोजन का जो समय है दो वक्त का उस समय को छोड़कर आप वाणी का मौन रखेंगे। नहीं तो प्रवचन का समय, प्रार्थना या प्रश्नोत्तरी का समय छोड़कर के आपस में बोलने में पाँच दिन निकल जायेंगे। विषय अनंत है

A science of life not organised, regimented, standardised codes of coduct and sets of values which everyone has to follow, the inquiry of the nature of ultmate reality, the privacy of attitude; वह था गाँधीजी का जीवन। इसलिये मैं ने यह भेद आप के सामने थोड़े मेंरखा कि यहां हम अध्यात्म की साधा करने की इच्छा से आये हुए, ध्यानशिबिर के लिए आये हुए व्यक्ति हैं; धर्मों की धार्मिक संगठनों की चर्चा करने के लिए नहीं और मुझ पर तो कोई धार्मिक व्यक्ति होने का आरोप स्वप्न में भी नहीं कर पायेगा।

यह जो अध्यात्म-साधना है याने जीवन के चरम सत्य की खोज है, वह कहाँ होगी ? कैसे होगी ? घरबार छोड़कर ? ब्रह्मचर्य लेकर ? शादी की हो तो घर से भागकर संन्यास ले कर के ? नौकरी-धंधा छोड़कर ? मानबीय-सम्बन्धों से दूर हटकर ? नहीं। सारा जीवन ही सत्य की साधना का क्षेत्र है। जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जो अध्यातमसाधना से अछूता रह सकता है। तो जीवन के चरम सत्य की खोज हम जहाँ हैं वहाँ करनी है। मानवीय सम्बन्धों के द्वारा करनी है। उस साधना के लिए अलग कोई क्रिया-कांड नहीं खड़ा करना है। कर्मकलाप नहीं फैलाना है। विशिष्ट परिस्थितियों का निर्माण नहीं करना है, जो परिस्थिति-प्राप्त सम्बन्ध हैं, अपने गुण और शक्ति-सापेक्ष दायित्व हैं, अपनी वृत्ति-इच्छा-अभिरुचि-के अनुकूल जो कर्मक्षेत्र हम ने चुनें हैं वहाँ रहते हुए; उन सब के द्वारा यह सत्य की खोज करनी है। यह अध्यात्म कहता है, यह Science of life कहता है, कि मानवीय सम्बन्ध ही मुक्ति की उपलब्धि के अवसर हैं।

Human relationships are exploration of liberation. सम्बन्धों से बाहर मुक्ति संभव नहीं है। सम्बन्ध अवसर है और सम्बन्ध माध्यम भी है।

क्यों माध्यम बने भाई ? और क्यों अवसर बनें ? क्योंकि सम्बन्धों की जो गति है—the movement of relationship—जो सम्बन्धों की उलझनें है, उनकी जटिलता है, कभी वक्रता और कुटिलता भी सही। उस समय व्यवहार में हमारी जो चित्त की दशा है वह अनायास प्रगट हो जाती है। हम कैसे हैं यह स्थूल देह को देखना हो तो शीशे के सामने जाकर बैठिये। शीशा बतला देता है आप कैसे हैं ? काले हैं, साँवले हैं, गोरे हैं, उजले हैं, लम्बे हैं, मोटे हैं, दुबले-पतले हैं—शीशा बतलाता है। लेकिन भीतर का कौन बतलायेगा ? और भीतर का कोई बतला भी दे तो हम मानेंगे ? नहीं मानेंगे। कोई कहेगा 'तुम अहङ्कारी हो' तो कहेंगे 'बिलकुल नहीं। आप गलत समझ रहे हैं। मेरे पास तो अहङ्कार

फटक ही नहीं सकता।' 'नहीं, नहीं आपको तो गुस्सा आता है, कल आया था।' 'वह तो ऐसा है न कि परिस्थिति ऐसी थी इसलिये मैंने दिखाने का गुस्सा कियां था, मुझमें गुस्सा नहीं है।' 'आप झूठ बोलते थे, मैंने देखा था सात दिन पहले'। 'नहीं, वह समाज के हित में, अन्याय से बचाने के लिये मैंने कहा। नहीं तो मैं झूठ नहीं बोलता।' मनुष्य बचाव पर चला जायेगा, समर्थन पर चला जायेगा, कोई सत्य की तरफ इंगित ही कर दे, तो उस व्यक्ति के प्रति एक प्रकार का प्रतिरोध खड़ा हो जायेगा। दीवार खड़ी हो जाती है सत्य की तरफ संकेत करने वालों के और हमारे बीच। भले हम गुरू भी करने के लिये क्यों न निकलें। वह बेचारा यदि सत्य बोलने लगे तो उसके प्रति भी हमारी श्रद्धा डिग जाती हैं। सुखद नहीं होता, प्रिय नहीं होता। इसलिये हमारी जो असलियत है, चित्त की जो दशा है, वह कहाँ प्रगट होगी? सम्बन्धों के दर्पण में। Relationships are the mirrors in which the factual reality of our psychological state gets reflceted without our knowing. आपको पता ही नहीं है, आपको पता हो तो आप उसको बचाने जायेंगे। एक दूसरे को घड़ी-दो घड़ी मिलते हैं तो 'आप अच्छे, मैं अच्छा'। सद्गुणों का प्रदर्शन करो, कमजोरियों को दबा लो-छिपा लो यह सब हम strategy करेंगे-व्यूहरचना करेंगे। चौबीस घण्टे साथ रहना पड़े तो? यह कुछ नहीं चलता है। सम्बन्धों में असलियत प्रगट होती है मित्र! संबंध दर्पण है, उसमें कितनी अहंता है, कितनी ममता है, कितना क्रोध है, कितनी ईर्ष्या है, कितना पाखण्ड है, कितनी लघुताग्रन्थि है—सब दिखता है। संबंध बड़े ईमानदार हैं, वे हमारी असलियत को पल-पल में प्रगट कर देते हैं, बड़े निर्मम हैं सम्बन्ध। और कितने प्रकार के सम्बन्ध हैं। कहीं पत्नी के साथ, कहीं प्रेयसी के साथ, कहीं मित्र के साथ, कहीं बेटे-बेटी के साथ, पड़ोसी के साथ, व्यवसाय में साथ काम करनेवाले के साथ। और कहाँ तक आप defence पर रहेंगे? बारह घण्टे-चौदह घण्टे के सम्बन्धों में इधर से उधर से वह असलियत झाँकने लगती है। आप दबाने की कोशिश करें, जबान में दबाने की कोशिश करें तो वह आँखों में उतर आती है, इशारों में उतर आती है, अरे आपके स्वर में उतर आती है।

अतः संबंध माध्यम हैं—मुक्ति की उपलब्धि के। क्योंकि वे ही हमारी असलियत को बतलाने वाले हमारे एकमेव हितैषी हैं। इतना उपकार कोई नहीं करता। इसलिये कर्म बंधनकारक नहीं हैं, मुक्तिदायक है। **'चित्त-शुद्धयर्थं कर्माणि'**। कर्म करते हैं चित्तशुद्धि के लिये और सम्बन्ध हैं मुक्ति-लब्धि के लिये। अध्यात्म कहता है कि संपूर्ण जीवन साधना का क्षेत्र है, सम्बन्ध अवसर है और संसार में जितने

भेदभाव तो चित्त में रखकर नहीं जाते। गंगा के लिये सब समान हैं और नहाने वाला प्रत्येक व्यक्ति शुद्ध होकर लौटेगा, शुचिर्भूत होकर लौटेगा। गंगाजी में सभी गात्रों को प्रक्षालित करके निकलेगा।

प्रत्येक व्यक्ति में जो सार्वभौम विभूतिमत्व है, वह असाधारण है, अद्वितीय है। हम कहते हैं न कि प्रत्येक व्यक्ति के पास कुछ न कुछ सद्‌गुण है, कुछ न कुछ शक्ति है, कुछ न कुछ विलक्षणता है, कुछ न कुछ uniqueness है। उसको मैं 'विभूति' संज्ञा से निवेदित करना चाहती थी। तो यह जो विभूतिमत्व है, इस विभूतिमत्व के अवगुण्ठन में वह आत्मतत्त्व मुस्कराता हुआ आपके और मेरे सबके बीच बैठा हुआ है। मैं कह रही हूँ कि ये सब आवरण आप छोड़ देंगे; आप कौन हैं, आप क्या हैं यह जो सामाजिक सन्दर्भ में आपकी अस्मिता है, पारिवारिक सन्दर्भ में आपकी जो अस्मिता है, सांस्कृतिक सन्दर्भ में, आर्थिक राजनैतिक सन्दर्भों में —उन सब उपाधियों को छोड़कर यहाँ पाँच दिन निरुपाधिकता का आनन्द लूटने के लिये आप आये हैं। वह जो निरुपाधिकता की स्वतन्त्रता है, स्वाधीनता है उसको पल भर के लिये भी छोड़ियेगा नहीं। यह निरुपाधिकता ही सच्चा एकान्त है। जो functional rolls जीवन भर हमको निभाने पड़ते हैं, जिन्हें पाँच दिन के बाद लौटने पर निभाने हैं। वे जो हमारी भूमिकायें हैं, दायित्व हैं उन उपाधियों को पाँच दिन के लिये हटा करके यहाँ आये हैं। चौबीस घण्टे में मनुष्य यदि ऐसी निरुपाधिकता में, ऐसे मौन के एकान्त में समय लेकर के बैठे तो अपना जो सत्त्व है, अपनी जो निजता है, अपना जो निजपद है उसका पावन स्पर्श वह पा सकता है, उसका चित्त पायेगा। और उस स्पर्श से पुलकित चित्त सारी इंद्रियों में झनझनाहट पैदा कर देगा। सुखद स्पन्दनों के वलय पैदा कर देगा।

'सत्सङ्गत्वे निःसङ्गत्वं निःसङ्गत्वे निर्मलतत्त्वम् ।'

सौ व्यक्ति एक ही दिशा में प्रयाण करने की इच्छा से, एक ही हेतु से, एक ही लक्ष्य के लिये पाँच दिन साथ रहने आये—यह कोई छोटी घटना नहीं है। हरेक व्यक्ति को निन्यानवे व्यक्तियों का सहयोग उपलब्ध है यहाँ। यहाँ के वातावरण में उत्कटता जन्म लेगी और उस उत्कटता का लाभ मिलेगा। तो एकान्त का आनन्द, उसका ऐश्वर्य लूटने में कंजूसी मत कीजियेगा। दिल खोल करके उसको लूटियेगा।

बात रही मेरी ! मैं जो आई हूँ और आप के पास बैठूँगी रोज, प्रवचन होगा प्रभात में और दोपहर में शायद प्रश्नोत्तरी होगी। तो क्या करनेवाली

हूं मैं? क्या कहनेवाली हूं मैं? दो-तीन कुछ बुनियादी बातें हैं, जो अलग-अलग ढंग से प्रतिवर्ष के ध्यान शिबिर में प्रस्तुत का जाती हैं। एक अध्यात्म और धर्म में जो भेद है उसकी स्पष्टता। ध्यान-शिबिर यह अध्यात्म-साधना का शिबिर है, यह धार्मिक शिबिर नहीं है। यानि जा संगठित धर्म हैं, संस्थागत धर्म हैं उनकी बात यहाँ नहीं होगी। आप जानते हैं महात्मा गाँधीजी को। गांधीजी आध्यात्मिक व्यक्ति थे, धार्मिक नहीं थे। आप कहेंगे क्या विधान कर दिया कि गाँधीजी धार्मिक व्यक्ति नहीं थे या विनोबाजा धार्मिक व्यक्ति नहीं थे। दिल में ठेस पहुँच सकती है सुनने पर। लेकिन सोचियेगा मेरे साथ थड़ी भरके लिये। गाँधीजी ने कह दिया वेदों में यदि अस्पृश्यता होगी तो मैं वेदों को अलग रख दूंगा। अस्पृश्यता-निवारण होना चाहिये। वेद-प्रामाण्य को हटा दिया इस व्यक्ति ने! जो वेद-प्रामाण्य सनातन-धर्मियों का मुख्य आधार है। उन्होंने कहा कि मैं सत्य को ही परमात्मा कहता हूँ। और कौन सा सत्य? जो मनुष्यों के परस्पर सम्बन्धों में व्यक्त होता है वह। मानवीय संबंधा में, घटनाओं में जो थिरकता है, इठलाता है, नाचता है, हँसता है वह जो सत्य है, वही परमात्मा है। और अहिंसा है उस सत्य की उपलब्धि के लिये-अहिंसक व्यवहार की साधना। यहाँ तक कि स्वराज्य भी हिंसा से नहीं चाहिये। स्त्री-पुरुषों की समता, समानता, अस्पृश्यता-निवारण तो है ही, लेकिन 'पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने' वगैरह कुछ नहीं। स्त्री और पुरुष बराबरी के हैं। और स्त्री को स्वाधीनता मिलनी चाहिये। आप मानेंगे? कॅथोलिक धर्म मानता है? यह स्त्री-पुरष की समता और स्त्री की संपूर्ण स्वाधीनता। क्या स्वीट्ज़रलेंड जैसा देश मानता है? बाईस केन्टोन्मेन्ट में से इक्कीस केन्टोन्मेन्ट में आज भी स्त्रियों को मतदान का अधिकार नहीं। इस्लाम मानता है? हिन्दू मानता है? स्त्री-पुरुष की समानता, समता, स्वाधीनता। भले उनके कार्यक्षेत्र अलग हों, उनके अपने-अपने वैशिष्टच हों लेकिन मनुष्य के नाते दोनों बराबरी के हैं। यह कोई मानने को राजी है? हम टटोलें अपने-अपने दिल। गांधीजी ने कहा कि दोनों समान हैं। विनोबाजी ने कहा ब्रह्मविद्या का अधिकार है स्त्री को, संन्यास लेने का अधिकार है स्त्री को। हमने जो अपने मानस में स्त्री की, नारी की कल्पना कर रखी है उस पर आघात होंगे।

कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं जो हम को और आप को बतलायेंगे कि गाँधीजी आध्यात्मिक साधक थे लेकिन जिस को आप धार्मिक व्यक्ति कहेंगे वैसे वे नहीं थे। कहाँ माना उन्हों ने जाति-धर्म को? नहीं माना। गाँधीजी विशुद्ध अध्यात्म, जो जीवन का विज्ञान है, उसके उपासक थे।—

में गयी नहीं। वे गलियाँ हैं अवश्य, बड़ी दुर्गम हैं। बड़े-बड़े शास्त्र उन पर लिखे गये हैं। उन शास्त्रों को समझाने वाले और वे शक्तिपात करनेवाले और चक्र खोलनेवाले और कुंडलिनी जगाने वाले और सुलानेवाले पता नहीं कितने लोग होंगे दुनिया में। मैं एक सामान्य व्यक्ति हूं लेकिन जीवन की पवित्रता की मस्ती में झूमती हुई जीने वाली व्यक्ति हूँ। मुझे इश्क है ज़िन्दगी से और वही लुटाती आयी हूँ। प्रेम के पास योग की आँखें होती हैं। इसलिये जीते–जीते कुछ थोड़ी समझ इधर-उधर से आ ही गई तो वह बांटने आयी हूं। तो पाँच दिन इस अध्यात्म के अधिष्ठान पर से बात-चीत होगी। ध्यान के विषय में होगी, जरूर होगी। लेकिन 'गहन-गंभीर धर्म के, तत्त्वज्ञान के, दर्शनशास्त्र के हम सवाल उठायेंगे और ये जवाब देंगी' ऐसी आशा से यदि कोई आया होगा तो मंगल प्रवचन में ही उनको सावधान कर दूँ कि निराशा मिलेगी आपको।

इस ध्यानादि का, सत्सङ्ग का, समाज की दृष्टि से क्या उपयोग है, क्या अनुबंध है सामाजिक परिस्थिति के साथ ऐसे शिविरों का? इस प्रश्न का भी थोड़ा चिन्तन इस मंगलप्रवचन में करें। समाज आज त्रस्त है भ्रष्टाचार, अनाचार, दुराचार, संयमहीन, स्वच्छंदी जीवन से। परेशान है आज समाज, उपभोगवाद से। उत्तान, उच्छृंखल उपभोगवाद। जो कहीं रुकना ही नहीं चाहता। पदार्थों के उपभोग में, विकारों के उपभोग में, संबंधों के भोग में। कहीं भी कोई लक्ष्मण-रेखा है ही नहीं। More and more and more and more, और चाहिये, और चाहिये। पैसा और चाहिये, प्रतिष्ठा और चाहिए। Standard of living और ऊँचा चाहिये। संग्रह, स्वामित्व, पद और प्रतिष्ठा की दलदल में सत्तर करोड़ जनता के मानस फँसे हुए हैं। एक बार पांव अंदर गया कि उसको जितना निकालो और गहरा जाता है। ऐसे कीचड़ में, दलदल में मानस फँसा हुआ है। जबान पर काबू नहीं है। वाणी पर कोई नियंत्रण नहीं है। अनर्गल जब, जैसे चाहा, चल पड़े। इच्छाओं का गुलाम है मनुष्य, वासनाओं का गुलाम है, वाणी का गुलाम है। शारीरिक विकारों का गुलाम है। स्वाधीन कोई कहीं है ही नहीं।

अतः सत्संग में, आध्यात्मिक शिविरों में मनुष्य की यदि अपने प्रति कोई आत्मसम्मान की भावना जाग उठे, स्वाधीनता का प्रेम जाग उठे और अपने तन की, इंद्रियोंकी, विकारों की, इच्छाओं की स्वच्छंदता की गुलामी में से यदि बाहर निकले तो समाज का बड़ा उपकार होगा। आज तो डॉक्टर अपना काम ठीक नहीं करता, वकील अपना काम ठीक से नहीं करता, रेल्वे अफसर ठीक से नहीं करता। आज जीवन के किसी भी क्षेत्र में कोई आ

नागरिक नहीं है जो अपना काम प्रामाणिकता से करता है। अपवादों को छोड़ दीजिये। अड़सठ करोड़ में पचास-साठ अपवाद निकल आयेंगे। पर कहाँ से लायेंगे आप? ऐसे नागरिक कहीं बाहर से तो नहीं लाने हैं? इसी देश में पैदा होने हैं वे नागरिक जो यह कहेंगे कि ईमानदारी से, प्रामाणिकता से अपने काम करेंगे। ग्यारह से पाँच बजे तक नौकरी करने के लिये ही मुझे वेतन मिलता है। सातसौ-आठसौ, सात हजार-आठ हजार मिलता है तो ग्यारह से पाँच तक मैं ईमानदारी से काम करूँगा, जो भी है। वह नहीं करते हैं दफ्तर में बैठनेवाले, तो खेत में मजदूर भी नहीं करते। वह मिस्री भी नहीं करता है, बढ़ई नहीं करता है। वह राजकाम करनेवाला नहीं करता है। कोई नहीं करता है। डॉक्टर दवा में मिलावट करेगा, वकील अपनी सलाह में मिलावट करेगा, व्यापारी अपने पदार्थों में मिलावट करेगा, adulteration करेगा। इसी का नाम ही भाई भ्रष्टाचार है। एक तो रिश्वत-खोरी याने बिना कमाई के पैसे के लिये हाथ फैलाना, मुफ्त का लेना। जो भी काम करना है उस में श्रम की चोरी करना। जो काम नहीं करते हैं उस का पैसा मुफ्त का लेना। यही न हुआ भ्रष्टाचार कि और कुछ है? और जिस के कोई आत्मसम्मान है, self respect हैं वह व्यक्ति तो ऐसा नहीं करेगा।

सत्सङ्ग में मनुष्य के हृदय में अपने प्रति आत्मसम्मान की भावना जाग उठे। 'सत्सङ्गत्वे निःसङ्गत्वम् निःसङ्गत्वे निर्मलतत्त्वम्। निर्मलतत्त्वे निश्चलबुद्धिः।' फिर उस का तत्त्व-सत्त्व निर्मल हो जाय। बुद्धि निश्चल हो जाय। उस को जो सही मालूम हो उसी पर अडोल रहे, अडिग रहे। फिर वह गलत काम किसी के डराने से, दबाने से, झुकाने से नहीं करे।

आज आदमी खरीदे जाते हैं। नीलाम बोलते हैं अपनेआप का। इस अवस्था में से बाहर निकाल सकता हैं तो यह अध्यात्म ही निकाल सकता है। आदर्श–सिद्धान्त ideologies नहीं निकाल सकते। चाहे वह गाँधी के नाम से जुड़े हुए क्यों न हो! और आज तो मनुष्य इतना गिर गया है कि उस को अपनी इज्जत का ख्याल नहीं है। अपनी माँ-बेटी-बहन की इज्जत का ख्याल नहीं है। रूप बेचना, गुण बेचना, विद्या बेचना, अपनेआप को बेचना– इस में से बाहर निकलने में यदि अध्यात्म मदद करता है तो वह उपयोगी है। नहीं तो अध्यात्म के नाम पर antisocial activities चलती हैं। 'क्या करना है? यह तो माया है, सब छोड़कर निकल जाओ; अपनी कोई जिम्मेवारी नहीं है। गरीब है, दुःखी है, अपने प्रारब्ध से, अपने को क्या लेना-देना है? बैठो अपने घर में। यह सब माया है, यह सब उनका प्रारब्ध है'। अध्यात्म

प्राणी और पदार्थ हैं वे हमारे सहयोगी साथी हैं साधना के। अब बोलो किसका तिरस्कार करेंगे ? किसका निषेध, किससे प्यार होगा ? मनुष्य तो साथी हैं ही; लेकिन पशु, पक्षी, वनस्पति, पाषाण, सरिताएँ, सागर, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण सभी हमारे साथी हैं। Fellowbeings and companions. इन साथियों की तरफ हमने कभी देखा है ? निरखा है कभी उनको ? कभी प्यार से, गौर से देखा है उनकी तरफ ? उनके साथ का हमारा जो संबंध है उसको कभी हम जीये हैं ? जीते हैं ? तो अध्यात्म कहता है कि साधना होगी जीवन के हर क्षेत्र में, हर पल में, हर परिस्थिति में। उसके लिये अलग कोई साधना का समय, साधना का क्षेत्र और कर्म का पसारा फैलाने की जरूरत नहीं है। क्यों ? क्योंकि अध्यात्म में हमें कुछ प्राप्त नहीं करना है। जिसको परमात्मा कहेंगे, ईश्वर कहेंगे, विश्व विभु कहेंगे, जगदाधार कहेंगे, विश्वाधार कहेंगे ये चरम सत्य के लिये दी हुई मनोहर संज्ञायें हैं, मधुर संज्ञायें हैं। वह हमसे दूर नहीं है। वह यदि बाहर है तो भीतर भी है। जितना बाहर उतना ही भीतर भी है परमात्मा। बाहर यदि संपूर्ण है ब्रह्माण्ड के रूप में तो पिण्ड में भी वह इतना ही संपूर्ण है। षोडश कलायें यदि बाहर हैं तो भीतर षोडश कला ही नहीं सत्रहवीं कला को लेकर वहीं बैठा हुआ है।

उसको प्राप्त करना है इस भ्रम में मनुष्य भटकता रहता है उपायों की खोज में, उपाय बतलाने वाले तज्ज्ञों की खोज में। मार्गों की, प्रक्रियाओं की खोज में अपने से दूर-दूर-दूर भटकता चला जाता है। उलझता है प्रक्रियाओं से, उलझ जाता है मार्गों में और जो उसकी पलकों के पीछे है और जो उसके पलकों के सामने बिछा है उसको वह देख नहीं पाता। उसके शरीर के भीतर ही ॐकार के रूप में जो नित्य स्पन्दित है और बाहर के आकाश के अन्तराल में प्रणव के रूप में बिराजता है उसका नाद वह सुन नहीं पाता है। इसलिये लौटना होता है। जिज्ञासु जब साधक बनता है तो दुनिया भर की उसकी भटकन, खतम ! उसकी यात्रा घर की तरफ शुरू होती है। साधना याने home coming. अपने से बिछड़ा हुआ, अपने में लौट रहा है। इसलिये कह दिया **'अनुपाय एव उपायः।'** उपाय करने के लिये निकले नहीं अपने बाहर। मनके द्वारा उपाय करेंगे। उपाय करने वाले अहंकार को पुष्ट बनाते चले जायेंगे। उपायों के परिणामों में सफलता-विफलता को ढूंढते हुए, बच्चे जैसे सागर के किनारे सीप और शङ्ख इकठ्ठे करके झोली भरके लाते हैं वैसे ये कर्मों की विफलता और सफलता, उपायों की सफलता और विफलता की सीप और शङ्ख लेकर के जीवन के संध्याकाल में लौटते हैं, पर अध्यात्म यह नहीं। अध्यात्म में न कुछ कमाने

लायक है, न कुछ गंवाने–खोने लायक है, न कुछ छोड़ने लायक है, न कुछ पकड़ने लायक हैं।'

जीवन की यथार्थता को समझकर आत्मोल्लास में चिरप्रसन्न जीवन जीने का मौका मनुष्य देह में मिलता है। यहाँ सुख है, यहां दुःख है, यहाँ गरीबी है, यहाँ अमीरी है, मान है, अपमान है, सज्जनता के साथ-साथ दुर्जनता है। सब कुछ है। इन्कार नहीं है इससे। और मनुष्य ने अपने लिये जो परिस्थिति पैदा कर दी है—भारत में और अन्य देशों में, वह इतनी भयानक है कि मनुष्य उसके भार के नीचे दब जाता है। लेकिन परिस्थितियों के ऐसे बादल घिर आते हैं और छँट भी जाते हैं। उनमें अन्याय के, अधर्म के प्रतिकार के लिये जो करना है मनुष्य करे भी और करना भी चाहिये। लेकिन अपने प्रति मनुष्य की जो जिम्मेवारी है, जो दायित्व है वह यह है कि 'मैं कौन हूँ ?' 'मैं क्या हूं ?' अपना स्वरूप मैं समझ लूं। 'यह विश्व क्या है ? इसके साथ मेरा सम्बन्ध क्या है ?' मैं समझ लूं। और सम्बन्ध बांधे नहीं और मुक्ति दे इस ललित कला को सीख लूं।

जीवन जीना सबसे श्रेष्ठ ललित कला है। संगीत और नर्तन के, साहित्य के और काव्य के लालित्य से अधिक सूक्ष्म लालित्य जीवन जीने की कला में है। सम्बन्धों में चित्त में समता रहे, क्षोभ पैदा न हो; सम्बन्धों में से गुजरे और राग-द्वेष पैदा न हो, कोई नट सरकस में रस्सी पर चले तो आपको कैसा आश्चर्य लगता है। वैसे हम जिन सम्बन्धों में चल रहे हैं वहाँ न राग पैदा होता है न द्वेष पैदा होता है। रात-दिन लोगों के बीच से गुजर रहे है लेकिन एकान्त भंग नहीं होता है। बोलना पड़ता है वहाँ बोले चले जा रहा है लेकिन मौन टूटता ही नहीं है यह ऐसी एक जीवन जीने की कला है। योगी इसी जीवन कला में जीते चले जाते हैं।

यही बातें आपसे मुझे कहनी थीं कि यह एक आध्यात्मिक शिबिर है यहाँ धर्म के बारे में बतला नहीं पाऊँगी इसका और भी एक कारण है। मैं धर्मज्ञ व्यक्ति नहीं हूँ। मैंने धर्मों के और शास्त्रों के अध्ययन में समय नहीं दिया। इधर-उधर से गुजरते हुए कुछ पढ़ने में आया, कुछ सुनने में आया, कुछ अनायास बटोरा गया ऐसी जानकारी पड़ी भी है लेकिन किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ के पास किसी भी विशिष्ट धर्म का अध्ययन नहीं किया है। तो आप लोग पूछियेगा भी तो मै कुछ बतला नहीं पाऊँगी। मैंने किया नहीं कुछ जिंदगी में में सिवा जीने के। किया नहीं कुछ भी इन्द्रियों ने सिवा उस प्रभु को संसार में देखने के। उसी विषय पर तो बोलूंगी जो मैं ने जिया है ! नहीं तो पूछेंगे पुनर्जन्म है या नहीं ? शक्तिपात कैसे करना ? कुंडलिनी को कैसे जगाना ? मैं इन गलियों

हुआ है, जो आता भी रहता है, हमारे कानों से टकराता है 'मैं हूँ', 'मैं हूँ' 'मैं हूँ'। इस चिरन्तन प्रत्यय की चट्टान से नास्तिक दर्शन टकराते हैं और चूर हो जाते हैं। क्योंकि नित्यपरिवर्तनशील देह–सरिता में, जिसमें परिवर्तन नहीं होता ऐसा एक अपरिवर्तनीय, परिवर्तनों से परे, एक चिरंतन, एक सनातन 'हूँ'-कार है। इतने मनुष्य जन्म लेते, इतने मरते हैं लेकिन हर जन्म लेनेवाले बालक में पता नहीं कहाँ से वही सनातन 'हूँ'कार है जीवन के अस्तित्व का। इसलिये नास्तिक दर्शन बहुत कम ठहर पाते हैं।

नास्तिक प्रार्थना नहीं कर पाता। क्योंकि जो पल–पल में बदलता है उससे प्रार्थना कैसी? जो एक पल भरके लिये भी ठहर नहीं पाता उससे प्रार्थना कैसी? उससे सम्बन्ध कैसे? प्रार्थना है जो इंद्रियों से परे, मन से बुद्धि से परे है, शब्द से परे है ऐसी जीवन की सर्वता के साथ, अखिलाई के साथ, निखिलता के साथ सम्बन्ध बाँधने की कला। यह शब्दोपचार नहीं है। यह सदाचार नहीं है। सुसभ्य लोगों का शिष्टाचार भी नहीं है। मन को बहलाने का उपचार भी नहीं है। प्रार्थना है उस से सम्बन्ध बाँधने की कला, जो सभी परिवर्तनों के पीछे अपनी सत्ता में विराजमान है, अथाह जल के सागर जैसा।

सागर पर, जलाशय पर तरंग उठते हैं, मिटते हैं, जाने कितने! अनगिनत तरंगों को कलना, गणना कोई कर नहीं सकता। अपनी मौज में उठते हैं, मिटते हैं। रौनक दिखा जाते हैं। लेकिन तरंगों को छूने जायें तो हाथ में जल आता है। वैसे जन्म के, मृत्यु के, सुख के, दुःख के, हर्ष के, शोक के उठनेवाले तरंगों को मनुष्य छूने जाता है। आँसुओं के खारेपन को, मुस्कान की मिठास को छूने जाता है तो स्पर्श होता है जिन्दगी से, जीवन से। तो प्रार्थना वह व्यक्ति कर पाएगा जो आस्तिक है, जो कहता है कि जीवन 'है'। **'सर्वम् अनित्यं सर्वं क्षणिकम्'** कहें! लेकिन **'सर्वम्'** का इन्कार नहीं हो सकता। 'सर्वम् अस्ति। सर्वत्र अस्ति। सर्वदा अस्ति'। सदा–सर्वत्र है ही है। परिवर्तनों के पीछे, कोई सत्ता खड़ी हैं। तरङ्गों के पीछे जैसे जल है। हमारे शरीर में भी प्रतिक्षण नष्ट होने वाले बदलने वाले शरीर में भी कुछ स्थायी है, वही सत्ता का सागर। मेरे मित्रो! जो प्रार्थना आप करते हैं वह प्रार्थना संतों के शब्दों का सेतु बाँध कर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की सीमाओं को लाँघकर परात्पर परमात्मा के पास पहुँचने की कला है। जो रसिक हो, इस कला से प्रभात में, संध्या में, आनन्द लूटें।

आज तो प्रार्थना भी बड़ी विकृत बन गई है। भजन का सेतु बाँध कर वहाँ सत्ता के पास पहुँच गये तो लोग माँगने लगते हैं। 'धन दो, दौलत दो, पुत्र दो, पद दो, प्रतिष्ठा दो'—माँगने लगते हैं। अरे, परमात्मा के पास पहुँच

कर माँगना कुछ है तो उसी को माँग लो न ! आप नदी में नहाने जाते होंगे। यदि जाते हों तो ! वहाँ क्या माँगते हैं आप ? जी भर के नहाते हैं। और क्या नहीं मिलता आपको नहाने से ? शरीर शुद्ध होता है, चित्त प्रसन्न होता है, अंग-प्रत्यंग में शीतलता व्याप्त होती है, नवजीवन का संचार होता है। क्या आप माँगने गये थे ? नहाने गये थे न ? जी भर के नहाये, मल-मल के नहाये और परिणाम स्वरूप आप के हाथों में कितनी अमूल्य चीजें आ गयीं, बिना माँगे। वसे आत्मानुभूति के रस से भीगे-भीगे जो शब्द हैं संतों के, उन में हम नहायें। केवल जीभ से उच्चारण न करें। वह रस हम चखें। नहायें उसमें, मन को नहाने दें, बुद्धि को नहाने दें तो होनेवाला परिणाम स्वयं घटित होगा, माँगना नहीं पड़ेगा। जो प्रार्थना को भिक्षा माँगने का समय समझते हैं और उसमें अपनी नम्रता मानते हैं, मेरे ख्याल से वे कहीं गलत रास्ते पर हैं। जिसने अपने प्रेम और करुणा से यह विश्व का आकार धारण कर लिया और वहन करता है उससे भला क्या माँगना ? उसका प्यार ही तो बहता है सरिताओं में और सागरों में जल बन करके। उसका प्यार ही तो उमड़ पड़ रहा है उधर जो सूर्योदय हो रहा है। भगवान आदित्यनारायण की रश्मियों में संजीवक शक्ति बन कर क्या प्रभु का प्यार नहीं बरसता है ? प्रकाश भी है, ऊष्मा भी है, संजीवक शक्ति भी है अनन्त प्रकार की ऊर्जाओं को लेकर रोज के प्रभात में अरुण के पीछे दौड़ते-दौड़ते आने वाले भगवान नारायण क्या प्रभु की सदेह करुणा नहीं हैं ? और जो रात को अपनी अमृतमयी ज्योत्स्ना बरसा रहा था बिन माँगे हम सब के ऊपर, वह चन्द्र क्या उस प्रेमी का रूप नहीं ? प्रेमी हमेशा अपने आपको लुटाता है। उत्सर्ग में लुटाने में, देने में प्रेम कृतकृत्य है। प्रेमी का जीवन यज्ञकर्म है, सौदा नहीं। तो परमात्मा वह जगदाधार, जगन्नाथ सारे आकार धारण करके सामने खड़ा है। धरती में कण डालते हो और वापस मन भर मिलता है यह क्या आपका और हमारा पुरुषार्थ है ? यह तो धरती के गर्भ में, वसुन्धरा के गर्भ में पड़ी हुई प्रभु की करुणा की शक्ति है। इसलिये भला प्रभु से क्या माँगना है ? प्रार्थना को माँगने का समय बना लेना यह विकृति है। नास्तिक माँगेगा कैसे ? और आस्तिक को माँगने की आवश्यकता क्या है ? यह तो प्रभुसत्ता का स्पर्श पा कर पुनीत होने की वेला है।

'जीवन जखन शुकाये जाय करुणाधाराये एशा !'

जीवन सूख जाता है, आघात–प्रत्याघातों से चित्त सूख जाता है। हार मान लेता है। थका हुआ होता है, ऐसे श्रान्त—क्लान्त चित्त को प्रभु के स्पर्श से ताजा बनाने का यह समय है।

के नाम से पलायनवाद सिखाने के बाज़ार गरम हैं। अध्यात्म के नाम से callousness, जड़ उदासीनता, कठोरता, निर्ममता सिखानेवाले अनेकों हैं।

ऐसे में हम मुट्ठीभर व्यक्ति बैठे हुए हैं यहाँ गोपालधाम में, सोचते हैं और सोचेंगे कि आज मनुष्य मनुष्यता से गिरा है। इसलिये उसकी राजनीति गिरती है, उस का धर्म गिरता है, उस का अर्थतन्त्र गिरता है। कैसे क्या किया जाय कि मनुष्य उठे, अपनी मनुष्यता में। अपनी मनुष्यता की शान में उठ के खड़ा हो जाय। गरदन सीधी रख कर के आत्मसम्मान से जी सके कि 'मुझे कोई खरीद नहीं सकता, झुका नहीं सकता, डरा नहीं सकता। जो मेरी समझ में आयेगा उस के अनुसार मैं जीऊँगा, इस की जो कीमत चुकानी पड़े मैं चुकाऊँगा।' यह मनुष्यता की खुमारी आँखों में लिये हुए जीनेवाले नागरिकों की जरूरत है। यह जो आत्मबल है, the soul force, वह यदि जाग उठे तो यह हो सकता है, ऐसी श्रद्धा है।

एक बार यह हुआ था जब महात्मा गाँधीजी ने राष्ट्र का नेतृत्व किया, और निःशस्त्र, नंगे, भूखे, दबे हुए, शतकों की गुलामी में पड़े हुए लोगों को खड़े कर दिया, निर्भय बना दिया। उन की आत्मसम्मान की भावना जगा दी तो उन को ब्रिटिशों की लाठियाँ नहीं डरा सकीं, गोलियाँ नही झुका सकीं, फाँसी के तख्ते उन को नहीं दबा सके। इसी देश में से तो खड़े हुए थे वे! तो आज भी वैसे नागरिक खड़े हो सकते हैं। अध्यात्म है मनुष्य को अपनी मनुष्यता के अधिष्ठान पर खड़ा करने के लिये, उस को निर्भय बनाने के लिये। सच बात कहूँ तो निर्भय भी नहीं, अभय बनाने के लिये।

यहाँ जो पाँच दिन हम साथ रहनेवाले हैं तो जो कार्यक्रम अपने चलेंगे उन के पीछे जो दृष्टि है मेरी, जिसके कारण दौड़-दौड़ कर भारत के विभिन्न राज्यों में, यह अध्यात्म का पाञ्चजन्य बजाते हुए घूमती रहती हूँ। उस की थोड़ी-सी झांकी आपको मैं ने मंगल प्रवचन में कराई।

ॐ

द्वितीय प्रवचन

दि. १९-११-८३ प्रातः ६-३० बजे

दो प्रकार के लोग हैं संसार में—नास्तिक और आस्तिक। नास्तिक कहता है कि मेरी इन्द्रियों की पकड़ में जितना और जो आता है बस उतना ही और वही जीवन है। मेरी इन्द्रियों की पकड़ में आनेवाला जो जीवन है वह पदार्थों का बना है। पदार्थों के होते हैं रस, रंग, रूप, स्वाद और ये नित्य बदलते रहते हैं। जीवन नित्य परिवर्तनशील है याने अनित्य है। एक पल भर के लिये भी जो जैसा है वैसा उसका रूप-रंग ठहरता नहीं है। उसकी काया ठहरती नहीं है। 'तस्मात्' जीवन अनित्य है। जो कुछ है वह क्षणिक है। इन्द्रियों की पकड़ में आता है उतना ही है, उससे परे नहीं है। ऐसे इन्द्रियों की सीमाओं में जीवन को बाँध लिया नास्तिकों ने। इन्द्रियों से कुछ आगे बढ़े और उन्होंने कहा कि भले इन्द्रियों की पकड़ में न आवे, जो बुद्धि की पकड़ में आता है उतना ही जीवन है। इन्द्रियों को प्रमाण माननेवाले, इन्द्रिय-प्रामाण्यवादी संसार में हैं। तो कुछ हैं बुद्धिप्रामाण्यवादी। बुद्धि को प्रमाण माननेवाले, वे कहते हैं कि बुद्धि की पकड़ में आता है उतना जीवन है उससे परे कुछ है यह नहीं कहा जा सकता। और बुद्धि शब्द से आगे नहीं बढ़ सकती। शब्दों की मर्यादा में और सीमा में बुद्धि कैद है। तो कुछ बन गये शब्द-प्रामाण्यवादी। और कुछ आगे बढ़े, उन्होंने कहा कि नहीं, मन में संवेदन की शक्ति है। जहाँ विचार या शब्द छू नहीं पाते वहाँ संवेदन छू पाते है इसलिये हमारी सवेदना में जो आयेगा, अनुभूति में आयेगा उतना जीवन है। तो संवेदनशीलता की जो शक्ति है उसके घेरे में उन्होंने जीवन को कैद मान लिया। वह भी एक मर्यादा आ गयी।

इस प्रकार नास्तिक-दर्शनवाले लोग शरीर की, बुद्धि की, मन की सीमाओं में जितना है उससे परे जीवन की सत्ता नहीं है ऐसा मानते हैं।

उनके साथ कठिनाई एक ही है कि वे अपने आप का इन्कार नहीं कर पाते। अपने शरीर को देखेंगे तो कभी इसमें शैशव था, कभी किशोरावस्था थी, कभी यौवन था, कभी प्रगल्भ प्रौढ़ावस्था थी और कभी है बुढ़ापा। लेकिन नित्य-परिवर्तनशील देह की सरिता में, पात्र में यह बहनेवाली अवस्थाएं होने पर भी इन सब अवस्थाओं में समान रूप से, सदा-सर्वदा हरा-भरा अपने अस्तित्व का प्रत्यय छिपा हुआ होता है। 'मैं हूं' इस पर कभी किसी को संदेह नहीं होता। तो यह जो अपने श्वासोच्छ्वास में जीवन का एक 'हुं'कार छिपा

हम प्रार्थना करते हैं सुबह-शाम, तो उसका प्रयोजन समझ लें। यह जो परात्पर सत्ता है, उसका निर्देश है जो मंत्र आप गा रहे थे उस में।

'ईशावास्यम् इदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।'

इस जगत् में व्यक्त में, अव्यक्त में, दृश्य में, अदृश्य में, अनुभूत में, अननुभूत में, ज्ञात में, अज्ञात में, जो कुछ भी है वह, 'वह ईश है,' सब कुछ में वही व्याप्त है, सब जगह वही विराजमान है। सर्वत्र है, सर्वदा है, सर्वरूप से है। ईश्वर है तो सब कुछ है। कुछ एक नहीं है। तो 'ईश्' शब्द से निर्देश है सर्वव्यापिनी सत्ता का, उस में एक-अनेक का भेद नहीं कीजियेगा। परमात्मा एक भी नहीं, अनेक भी नहीं है। असल में तो सर्व भी नहीं, बस 'है'। जीवन का जो होनेपना है वही परमात्मा की विभूति है। तो आप कहेंगे कि "हमने जो कुछ बना लिया 'राम' बना लिया, 'कृष्ण' बना लिया, 'देवी' बना लिया, कितना कुछ हमने बना लिया है! वह ईश्वर नहीं है?" भाई! वह आपका उपास्य है। उपासना का एक शास्त्र है। हमारे पूर्वज बड़े रसिक थे। अपनी इच्छाओं को उन्हों ने अशास्त्रीय नहीं रहने दिया, शास्त्रों में गूंथ लिया। सिर पर बाल होते है और बहनें जैसे चोटियाँ गूंथती हैं वैसे कलाओं को विद्याओं को शास्त्रों में गूंथ लिया रसिक पूर्वजों ने। उपासना का शास्त्र बनाया। सर्वव्यापी सत्ता के पास हम कैसे बैठें? 'तू मेरा है, मैं तेरा हूँ' कैसे कहेंगे? उसको आकार तो दे दो! निराकार के साथ संबंध कैसे? निर्गुण के साथ कैसे संबंध होगा? तो उपासना के लिये मूर्ति बनाने का शास्त्र, मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा करके विग्रह बनाने का शास्त्र बन गया इस देश में। जिस की महिमा आज पश्चिम के लोग देखते हैं, समझते हैं, उपयोग करते हैं। आप का बनाया हुआ जो ईश्वर है याने उपासना के लिये जो उपास्य, आराधना के लिये जो आराध्य बनाया उसकी आपके लिये उपयुक्तता है, वह व्यक्ति-सापेक्ष है।

मानव का बनाया हुआ भगवान, मनुष्य के बनाये हुए ईश्वर के रूप ये उपासना शास्त्र के लिये सत्य है; अध्यात्म की दृष्टि से नहीं है। क्यों कि अध्यात्म की दृष्टि से परमात्मा यदि है तो 'सब कुछ' है, 'सब' से कम वह नहीं है। परमात्मा सर्व से कम नहीं है। रूप में देखना है तो सब रूपों में देखना पड़ेगा। नामों में लाड़ लड़ाने हैं तो सभी नामों में उस पर प्यार बरसाना होगा। और गुण के रूप में देखना है तो कभी वह सद्‌गुण बनकर, कभी दुर्गुण बनकर भी सामने आयेगा। गुण का एक अर्थ है 'पाश'। बांधनेवाले सद्‌गुण और द्वेष पैदा करने

करनेवाले दुर्गुण, दोनों में इसकी शक्ति होगी। मतलब यह है कि परमात्मा 'सर्व' से कम नहीं हो सकता। और हम जो बनाते हैं उपासना के लिये,वह भी उसी के भीतर है। अपने-अपने छोटे मकान नहीं बनाते रहने के लिये? निराकार में हम भला कहाँ रहते हैं? मकान बनाते हैं, निराकार से थोड़ा—सा अवकाश माँग कर के चार दीवारो के बीच उस अन्तराल को, अवकाश को घेर देते हैं दीवारों से, छत से और छोटा-सा बना लिया मकान। पक्षियों के घोंसले, मनुष्यों के मकान; रहने के लिये अपनी सुविधा के लिये। मकान चिरंतन सत्य नहीं है। चाहे जितने बड़े-बड़े महल क्यों न बना लो? छोटी—सी झोंपड़ी हो, पर्णकुटी हो या बड़ा महल हो। उसके भीतर जो अंतराल है, अवकाश हैं, emptiness of space है, वही प्राणदाता परमात्मा है। वह न हो तो मकान में रह पाओगे? खिड़की न हो, झरोखे न हों, आकाश न हो, पवन—वायु न हो, प्रकाश—संचार न हों, तो नहीं रह पायेंगे। तो घोंसले भी ऐसे बनाने पड़ते है, मकान भी ऐसे बनाने पड़ते हैं जिस में परमात्मा की सत्ता की जितनी विभूतियाँ हैं उनका आवागमन हो सके, आना—जाना हो सके। पवन आपको आलिंगन में बाँध ले, सूर्य की किरणें आपको उज्ज्वल बना दें, ऊष्मा दें, चन्द्र की किरणें शीतल बना दें।

अरे, जिस को छोड़ने की कोशिश जनमभर करो तो भी नहीं छूटेगा ऐसा है मेरा परमात्मा! और जनमभर कोशिश करो पकड़ने की, जो पकड़ में नहीं आयेगा—इन्द्रियों की, मन और बुद्धि की, उसका नाम संसार है। पकड़ना चाहते हैं, पकड़ में नहीं आता वह संसार, छोड़ना चाहो तो भी नहीं छूटता वह परमात्मा। अंजलि में जल लिया कि परमात्मा आ ही गया उस जल के पीछे और साथ में, अपनी शीतलता को लिये, जीवन—शक्ति को लिये हुए, मिट्टी को हाथ लगाओ! मिट्टी में वही छिपा है। उसकी पकड़ से बाहर आप और हम नहीं है। उसके आश्लेष से बाहर हम नहीं हैं।

'ईश का आवास यह सारा जगत्,
जीवन यहाँ जो कुछ उसी से व्याप्त है।

हम उस सत्ता में से पैदा हुए हैं, सत्ता में जी रहे हैं और मृत्यु की घड़ी में उसी सत्ता में हमें वापस जाना है।

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।'
'अतएव करके त्याग उसके नाम से।'

मेरा सौभाग्य कहो या दुर्भाग्य कहो, महापुरुषों के साथ कुछ विचारभेद का ऐश्वर्य ले कर मैं जीती चली आयी हूँ। तो यहाँ जो अनुवाद विनोबाजी का है उससे सहमत होने में मुझे मुश्किल होती है। **'करके त्याग उसके नाम से'** ऐसा अर्थ यहाँ दिखता नहीं है। मंत्र से जो गुफ्तेगू मेरी चलती है तो मंत्र कहता है—**ईशावास्यम् इदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।' 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः** । जो कुछ भी गतिशील है इस जगत् में, अनन्त गतियों का भंडार है, अनंत ऊर्जाओं का क्रीडाक्षेत्र है—Cosmos is a playground for inumerable energies, their action and interaction. अनंत ऊर्जा और ऊर्जाओं के प्रवाहों में आदान–प्रदान, आघात और प्रत्याघात का क्रीड़ाक्षेत्र है यह सारा संसार; यह सारा विश्व। ये जो ऊर्जायें हैं, ये जो गतियाँ हैं वे बड़ी मोहक हैं, मोहिनी हैं। गतियों में सुख देने की शक्ति है, मादकता है। विकारों में गति है आवेग की, विचार में आवेश की गति है। आवेश से सुख मिलता है, आवेग से सुख मिलता है। गतियों में मादकता है। ये जो गतियाँ हैं इन के मोह को त्याग कर, जिन के आधार पर ये गतियाँ टिकी हुई हैं उस परमात्मा को तू पहचान ले! यह इस मंत्र का अर्थ दिखता है।

कुछ त्याग करनेलायक संसार में है तो नित्यपरिवर्तन का मोह। जो आज अतिशय है। Attraction and fascination for constant change which is the symbol of progress of modern civilisation, if it can be called civilisation. यही तो आज का सभ्यता है। आज का पहना हुआ कपड़ा कल नहीं चाहिये आज की खाई हुई चीज़ कल नहीं चाहिये। Proliferation of consumer goods is the sickening tendency of the civilisation. तो यह बदलाव का मोहहै, नित्य परिवर्तन का मोह है, गतियों का मोह है। गति का उपयोग करो, विनियोग करो लेकिन मनुष्य ने उसके मोह में फँस करके अमानुष गतियाँ पैदा की हैं और खुद उसका शिकार बन रहा है। ईशावास्य उपनिषद् चेतावनी दे रहा है कि जगत् में गतिशीलता होने के कारण, अनंत गतियों का क्रीडास्थान होने के कारण एक नहीं सात जनम गतियों की उपासना करते रहो तो भी अंत आनेवाला नहीं। इनकी माया में नहीं फँसना। इनसे बचना भी नहीं है लेकिन इन में फँसना भी नहीं है। इनके पीछे इनको धारण करनेवाली जो सत्ता है—the isness of life, containing all the motions and movements—गति को धारण करनेवाली जो स्थिति है, जो सत्ता है वही प्रभु का स्वरूप है रे! उस तरफ़ ध्यान रखना। इसलिये त्याग का संकेत है गतियों के

मोह की तरफ, गतियों में अटकने की तरफ। शक्ति होती है गति में और शक्ति में मादकता है। पैसा किसलिये इकट्ठा करते हैं? उस में शक्ति है: खरीदने की, दबाने की, डराने की। यह शक्ति की मादकता है। सत्ता किसलिये चाहिये? उस में शक्ति है। तो गतियाँ शक्तिस्वरूपिणी हैं। ईशावास्य कहता है कि शक्ति तो शिव के साथ है। यह शक्ति सती है, चाहे जितनी खुशामद करो, तुम्हारे वश होनेवाली नहीं है। लक्ष्मी नारायण के चरणों में और शक्ति शिव के साथ हैं।

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ"॥

तो वह जिसके साथ रहती है, उसीको पकड़ लो। जिन की चरण–सेवा करती है उन नारायण को ही पकड़ लो। जिस शिव की अर्धांगिनी बनी है उस शिव को क्यों नहीं पकड़ता है? इस प्रकार उपनिषत् का सङ्केत है गति-रूपिणी शक्ति की माया में न फँसते हुए वह जो मायापति सदाशिव है उसका हम भान रखें।

ॐ

तृतीय प्रवचन

दि. १९/११/८३ प्रातः ९.३० बजे

मौन में सान्निध्य इतना मधुर होता है कि उस में से बाहर निकलकर शब्दों को छूना मानों अरसिकता–सी लगती है। आसमंत का निमंत्रण है मौन में शामिल होने के लिये। आकाश के अंतराल का निमंत्रण है शून्यवत् बनते हुए व्यापक बनने के लिये। धरती का निमंत्रण है अपने क्षत–विक्षत हृदय की वेदना को छिपाते हुए हरियाली के रूप में प्रगट होने के लिये। अनेक निमंत्रणों को अलग रख कर के जिस प्रयोजन से हम और आप यहाँ आये हैं उस प्रयोजन पर उतर आना होगा। कई शिबिरार्थी होंगे जो पहली बार आ रहे हैं। कई होंगे जिन्होंने वर्षों से सुना है, पढ़ा है, कुछ गुना है, कुछ सोचा है और संभव है कुछ जिया भी है। किन्तु, जो पहली बार आनेवाले आगंतुक हैं उनको ध्यान में रखते हुए प्रवचन होंगे, इतना पुराने साथी ध्यान रखें। नये मित्रों से कहना चाहती हूँ कि आप आये होंगे ध्यानशिबिर शब्द सुनकर के इस आशा से कि ध्यान की कोई क्रिया–प्रक्रिया यहाँ सिखाई जायेगी। कोई मंत्र, तंत्र बतलाया जायेगा, कोई विधि–विधान दिये जायेंगे और फिर विधि–विधानों का पालन करते हुए, मन्त्र का जप और तन्त्र का उपयोग करते हुए आप को कुछ अनुभूतियाँ प्राप्त होंगी, कुछ अतीन्द्रिय शक्तियाँ खिल उठेंगी। नित्य नये नाद सुनाई देंगे, प्रकाश दिखाई देंगे, पता नहीं क्या–क्या धारणायें लेकर के आप आये होंगे। और मुझे यह दुःखद काम करता है कि इन में से एक भी मान्यता और धारणा आप की कायम नहीं रह पायेगी।

इस प्रभात में देखना है कि ध्यान क्या है और क्या नहीं है और क्यों ध्यान के मार्ग से हम जाना चाहते हैं ? क्या आकर्षण है कि ध्यानशिबिर में अपना घरबार छोड़कर अनेक असुविधाओं का वरण करते हुए, यहाँ चार–पाँच रोज रहना है ? शायद सावधान और सहृदय नागरिकों के लिए एक कारण यह हो सकता है कि समाज में जो सर्वत्र दुःख हैं; जो करोड़ों लोग भूखे हैं, नंगे हैं, जिनका शोषण होता है, शोषित है, पीड़ित हैं, उनके शोषण से, उनकी गरीबी या भुखमरी से दुःखी और व्यथित हृदय कुछ शान्ति पा सके। किन्तु ऐसे व्यथित होनेवाले शायद ध्यान सीखने के लिये नहीं आयेंगे। भूख और नंग मिटाने का रास्ता क्या है यह समझने के लिये और उस में शामिल होने के

लिये वे अन्य शिबिरों में जायेंगे जहाँ राष्ट्रीय परिस्थिति और समस्याओं का विचार होता है।

यह दुःख पड़ा ही हुआ है देश में, गरीबी और भुखमरी बढ़ती जा रही है। सरकारी आँकड़े तो आप को इतना ही बतलाते होंगे कि सौ में से अड़तालीस लोगों को स्वराज्य के छत्तीस वर्षों के वाद भी दो जून तो क्या एक जून भी भोजन नहीं मिल पाता है। भोजन से मतलब दाल–सब्जी–शाक–रोटी नहीं। रोटी–नमक या चावल–नमक इतना भी नहीं मिल पाता है। लेकिन वास्तविक दुर्दशा इससे कहीं बढ़कर है। अभी अक्टूबर में मैं बिहार में थी–गया जिला, पटना जिला, भागलपुर जिला, मुंगेर जिला इन जिलों में मेरा जाना हुआ। और मुझे मिलने आये बिहार के लगभग अठ्ठाईस जिलों के कार्यकर्ता, जिनको काम सौंपा गया था पिछले मार्च में कि 'सर्वेक्षण' करके ले आयें कि वास्तविक परिस्थिति क्या है? अठ्ठाईस जिलों में से सात जिलों के साथियों ने बतलाया कि उनके जिलों में starvation line भुखमरी की हालत पर जीनेवालों का अनुपात सौ में तिरानबे हैं। चौदह जिलों में है सत्तर से पचहत्तर प्रतिशत। और आदिवासी जो छोटा नागपुर, रांची, धनबाद, झरीआ जिलों में रहते हैं वहाँ के आदिवासियों के प्रतिनिधियों ने कहा कि 'बहन पूरा भोजन क्या होता है हमें जिन्दगी में मालूम ही नहीं है।'

यह समय नहीं प्रसंग नहीं, और स्थान नहीं है कि भारत के इस दुःख की कहानी मैं आप को सुनाऊँ। अनेक राज्यों की सुना सकती हूँ। केरल की, तामिलनाडु की, उड़ीसा की। अनुभव के आधार पर, अखबारों के आधार पर नहीं। वह एक प्रकार का दुःख है। जिसकी कल्पना गुजरात जैसे सम्पन्न राज्य में रहनेवाले गरीब से गरीब आदमी को भी शायद ही आये! क्योंकि यहाँ की गरीबी अलग है। वहाँ जिसको मैं गरीब कहती हूँ वह भूखमरी बिलकुल अलग है। तन ढकने को कपड़ा मिलना एक luxury है, ऐशआराम है वहाँ।

दूसरे प्रकार का एक दुःख है जो आपने जरूर देखा होगा अपने जीवन में—गुजरात में और गुजरात के बाहर। अन्न है, वस्त्र है, निवास है, शिक्षण की व्यवस्था है, संपन्नता भी है, संतति है, संपत्ति है लेकिन मन में शांति नहीं है, जीवन में समाधान नहीं है। जीवन में कहीं भी संतुलन नहीं है—शरीर के स्तर पर मन के स्तर पर, वाणी के–विचार के स्तर पर असंतुलन का राजयक्ष्मा रोग लगा हुआ है सबके पीछे। वह गुजरात हो, पंजाब हो, महाराष्ट्र हो। आज भारतवर्ष का सार्वजनिक जीवन पीड़ित है असंतुलन की अशुद्धि से। ऐसी अशुद्धियाँ और ऐसे असन्तुलन हैं वे खुले गटर–से हैं। उस सार्वजनिक जीवन

में वाणी से काम लेना पड़ता है। मैं किस को खुश गटर कह रही हूँ समझ में आया? वाणी को। वाणी का जो उपयोग होता है, मन से काम लेना पड़ता है, तन से काम करने के लिये भी मन-बुद्धि-वाणी का उपयोग करना पड़ता है। वहाँ इतनी अशुद्धियाँ हैं कि दिल दहल जाता है। झूठ बोलना, अतिशयोक्ति करना, एक दूसरे से ईर्ष्या करना, बात-बात में क्रोध आना, बात-बात में दूसरे का दिल तोड़ना, बात-बात में अपने अहंकार का घायल होना। सार्वजनिक जीवन में दुर्गन्ध है अहङ्कार के टकरावों की, वाणी के असंतुलन की; ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध को छोड़ दीजिये। मैं आर्थिक राजनैतिक शोषण की बात अलग रख के कह रही हूँ कि व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में, परिवारों में, सार्वजनिक जीवन में, संस्थाओं में, संगठनों में यह जो एक मानसिक दैन्य पड़ा है, यह जो मानसिक और वाचिक याने वाणी के असन्तुलन की बीमारी पड़ी है उससे समाज बड़ा पीड़ित है।

शिष्टाचार, विवेक का कुछ अंकुश लगाने की कोशिश मुट्ठीभर लोग करते हैं। लेकिन भीतर जितनी दुर्गन्ध पड़ी है वह कहीं न कहीं प्रकट तो होनेवाली है। चार व्यक्ति परिवार के या किसी संस्था-संगठन के या समाज के, अड़ोस पड़ोस के स्नेहीजन भी चार व्यक्ति एक साथ एकाध घण्टा भी ऐसे नहीं बैठ सकते हैं कि जिनमें परस्पर व्यवहार बिना किसी असंतुलन के हो। सन्देह करेंगे, हेतु के आरोप होंगे, कटुता होगी, प्रियता-अप्रियता आयेगी। अहंकार अपना फन निकालकर के ऊँचा खड़ा होता है। इसके कारण सहजीवन के बदले एक एक मनुष्य एक द्वीप बन जाता है। Isolated islands in the crowd of millions, individuals reduced themselves to isolated islands where no communication can take place.

बोलते हैं एक-दूसरे से लेकिन सेतु नहीं बन पाता है एक-दूसरे के हृदय तक पहुँचने का। रहते हैं साथ में लेकिन संग नहीं हो पाता। करते हैं काम साथ जिन्दगीभर लेकिन सहयोग नहीं हो पाता है। चिपकते हैं एक-दूसरे से आसक्ति के कारण, निर्भरता के कारण, आश्रित होकर के भी प्रभुत्व-स्वामित्व की भावना से या आश्रित भावना से। लेकिन प्यार नहीं हो पाता। कानून से एक-दूसरे को बाँध लेते हैं तुम पति, मैं पत्नी, प्यार नहीं हो पाता है। माता पिता बन जाते हैं, लेकिन संतानों और माता-पिता के बीच रिश्ता प्यार का नहीं हो पाता।

जो बाँधता नहीं है, जो मुक्त रखता है प्रत्येक व्यक्ति को और उसके व्यक्तित्व का सम्मान करते हुए हृदय की कोमलता उंडेल देता है वह प्यार

है। वह नहीं हो पाता है। इसलिये, यह जो दैन्य है इसका क्या उपाय है? भूखे पेट को देखकर दया आती है वैसे यह जो दीन–दरिद्री, संशयशील या नित्य–आक्रमणशील या नित्य भयग्रस्त मानस है उसको देखकर करुणा आती है। वह तो जीना न हुआ। जन्म मिला है जीने के लिये। जीना है मनुष्यों के साथ। जीना है पशुओं के, पक्षियों के साथ। जीना है धरती के–आकाश के साथ, चाँद–सूरज के साथ। जीना है अपने साथ, अपने शरीर–मन–बुद्धि–संस्कारों के साथ, अपने अतीत के साथ, अपने वर्तमान के साथ। इसलिये मनुष्य ढूँढता है कि है कोई जीवन जीने की कला जो सीखी जाय? तन को स्वच्छ बनाने के लिये, शुद्ध बनाने के लिये तो स्नान कर लो, मल–मल के काया धो लो। जल है, साबुन है, पता नहीं क्या–क्या है? मन को धोना है, वाणी को धोना है, बुद्धि का प्रक्षालन करना है नित्य–रोज व्यवहार में वह मलिन होनेवाली है उसको शुद्ध बनाना है तो ध्यान का प्रयोजन है। संगत है ध्यान सीखना या जानना उन व्यक्तियों के लिये जिनकी यह मानसिक अवस्था है।

लाखों नहीं, करोड़ों दुःखी हैं। अपने आप से असंतुष्ट हैं, जीवन का अस्वीकार है उनके चित्त में, किसी न किसी घटना के कारण, किसी न किसी व्यक्ति के कारण। अस्वीकार होने पर भी आत्महत्या नहीं करते। जी भी नहीं पाते, मर भी पाते। इस उलझन में से बाहर निकलना है। जो व्यक्ति यह मानते हों कि दिन में बीस बार क्रोध आना, दस बार ईर्ष्या होना, किसी का तिरस्कार, किसी के लिये आदरभाव होना यह सब स्वाभाविक है, मानसिक दुर्बलताओं को, मानसिक वक्रताओं को, मानसिक कुटिलताओं को जिन्होंने स्वभाव के रूप में स्वीकार कर लिया — उनको तो ध्यान क्या है जानना ही नहीं, उनके तो चित्त में कोई सवाल नहीं। वे मानते हैं कि ऐसी ही मनुष्य-जाति जीती चली आयी है और ऐसी ही जायेगी। लेकिन जिसको लगता है कि यह जो असंतुलित, अशुद्ध जीवन है हमारा, इसमें से बाहर निकलना चाहिये; एक दूसरे का मानसिक शोषण करते हैं आसक्ति के द्वारा, क्रोध के द्वारा, ईर्ष्या के द्वारा; यही युद्धों की जड़ें हैं, यह जिनको लगता है, उनके चित्त में **'अथातो आत्मजिज्ञासा', 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** का उदय है। 'अथ' शब्द केवल मंगलवाचक नहीं है, मंगलसूचक नहीं है। 'अथ' याने इतना यदि हो तो अब आत्मा के लिये जिज्ञासा है।

मान लेती हूँ कि हमारे सबके चित्त में ऐसी व्यथा है। हम नहीं मानते हैं कि मन है, वाणी है, बुद्धि है तो यह जरूरी है कि दिन में दस–बीस बार उसमें ये सब बीमारियाँ एक के बाद एक आती जायें। बार–बार क्रोध आना

यह बीमारी है। It's a mental sickness- स्वभाव नहीं है, विकृति है। अपने पास दो शाम खाने का है, पहनने के कपड़े हैं लेकिन दूसरे कपड़े देखे, अपने से भिन्न देखे, अच्छे लगे और वैसा पाने का लालच हुआ। आखिर अच्छा और बुरा यह तो सापेक्ष है, relative terms है। वह भिन्नता देखी, ईर्ष्या हुई। वैचिश्य देखा, विविधता देखी, ईर्ष्या हुई। यह मानसिक विकृति है। किसी की स्तुति की किसी ने, यथार्थ प्रशंसा की, तो भी हुआ मत्सर। यह जीना नहीं है, यह तो सड़ांद है, अंदर की दुर्गंध है। जैसे शरीर में व्याधि हो, वैसे यह मन में व्याधि है, इसको हटाना है। यह तो हुआ ध्यान को जानने का प्रयोजन। दूसरों का उद्धार करने के लिये नहीं, दूसरों का सुधार करने के लिये नहीं; अपने जीवन में परिवर्तन आ सके इसके लिये। असन्तुलन अशुद्धि है और सन्तुलन शुद्धि है। Imbalances are impurities that create psychic toxins. और मैं आप के सामने जीवन का विज्ञान रखूंगी। उपमा अलंकार नहीं, मनोरंजन या बुद्धिरंजन नहीं। यह अध्यात्म नाम का जीवन-विज्ञान है जो आप के पदार्थ-विज्ञान या गणित के जैसा सुनिश्चित है, सुरेख है, सुस्पष्ट है। वह रखना है इन चार पाँच दिनों में।

कैसे परिवर्तन हो? हमारे मन के आशय में जो संस्कार भरे पड़े हैं जो आदतें भरी पड़ी हैं, कितना कुछ संचित है पड़ा हुआ। जैसे परिवर्तन हो कि निर्मल बन जाय, शुद्ध-स्वच्छ बन जाय चित्त। ऐसा निर्मल रंग उसमें लगे कि दूसरा रंग चढ़े नहीं उस पर। ऐसा निर्मल बने कि जैसे सुवर्ण को कितनी बार अग्नि में डालो वह निखरकर बाहर आता है, वैसे गंदगियों के आक्रमण के बावजूद वह निर्मलता निखर उठे। तो जीवन-परिवर्तन की आकांक्षा होना— यही ध्यान के लिये प्रयोजन हुआ।

चलिये आगे। तो ध्यान कोई क्रिया या प्रक्रिया है शरीर की मन की? कोई methodology है, कोई technique है, जिसको सीखा जायेगा तो परिवर्तन आयेगा। मनुष्य ने अपने शरीर को काफी प्रशिक्षित किया है। सदियों का इतिहास बतलाता है। Training the body, training the impulses, training and cultivating the intellect. प्रशिक्षित करने का बहुत प्रयास हुआ है, सदियों से। हम मानते हैं जीवन-परिवर्तन के लिये भी कोई training होगी शरीर के स्तर पर। यह तन नाम का हमारी हस्ती का जो बहिरंग है, जो स्थूल ढाँचा है उसको थोड़ा शिक्षण देना पड़ेगा और थोड़ा प्रशिक्षण भी। जो योगासन आप सुबह सीखे होंगे, या आपने देखे होंगे— प्राणायाम, आसन आदि इनसे शरीर को प्रशिक्षित करें। किसलिये? कि शरीर

का लचीलापन कायम रहे। उसमें चपलता रहे, तत्परता रहे, लचीलापन रहे— pliability flexibility. शरीर के अंग–उपांग, उमर बढ़ते हुए जकड़ न जायें। जकड़न न आवे। stiffness—सख्ती न आवे। शरीर के जितने अंग–उपांग हैं, जितने विभाग हैं उनकी अस्थियाँ है, मज्जायें हैं, स्नायु हैं, नाड़ीतंत्र है। ये सब स्वस्थ रहें, निरामय रहें इसलिये शरीर के स्तर पर थोड़ा शिक्षण लेना होता है आहार के विषय में, विहार के विषय में, निद्रा के विषय में, वाणी के विषय में।

विचार करना पड़ता है। शरीर को कितना और कब खिलाना चाहिये, क्या खिलाना चाहिये। अपनी अवस्था के अनुकूल अपने व्यवसाय के अनुकूल, जिस स्थान में रहते हो वहाँ के जलवायु के अनुकूल। परम्पराओं की गुलामी में फंसते हुए नहीं, लेकिन अपने लिये चिंतन करते हुए आहार का क्रम निश्चित किया एक, कोई लय बाँध लिया। उसमें ताल-लय सब कुछ होता है। तो अन्न के साथ का सम्बन्ध बदल जायेगा। भूख नहीं तो आहार नहीं, प्यास नहीं, तो कुछ पीना नहीं। कहीं मिलने आये, कहीं समाज में बैठे, जो कुछ भी हो हमें अपने क्रम से बाहर खाना या पीना नहीं है। शरीर को स्वस्थ रखना है तो भूख लगे तब और भूख लगे उतना आहार लें। प्यास लगे तो और प्यास लगे तब ही पीयें और निद्रा के लिये तो प्रभु ने ही रात्रि निर्माण की है। उसमें कुछ समय आत्मचिंतन के लिये, ध्यान के लिये, कुछ समय निद्रा के लिये हो। लेकिन ऐसा सम्बन्ध बाँध देना, ऐसी एक लय उसमें पैदा कर लेना कि निद्रा भी स्वस्थ हो। और आसनों से शरीर के अंग-प्रत्यंग को व्यायाम मिले और शरीर की ताजगी और स्फूर्ति कायम रहे इत्यादि-इत्यादि। मुझे तो केवल निर्देश मात्र करना है। तो शरीर के स्तर पर कुछ शिक्षण-प्रशिक्षण की आवश्यकता है।

तो क्या ध्यान प्रक्रिया है वाणी के, मन और बुद्धि से स्तर पर ? क्रिया-प्रक्रियाओं का प्रयोजन है जहाँ आपको कोई शक्ति संपादन करनी है, प्राप्त करनी है शक्ति। जैसे मन्त्रयोग है, जिसका सम्बन्ध नाद के साथ है, काल के साथ है, प्रकाश तत्त्व के साथ है। तो मंत्रयोग में मंत्रों के उच्चारण से, पुनरावर्तन से, जप करने से शक्तियाँ जाग्रत हो सकती है, शरीर में छिपी हुई। नादानुसंधान करने से शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं, जिनको करना है करें। शारीरिक शक्तियाँ भी जाग्रत् होती हैं, मानसिक शक्तियाँ भी जाग्रत् होती हैं। शास्त्रों में उनका समय, उनके विधिविधान, उनके पथ्यानुपान सब बतलाये हैं। नादयोग लययोग, मंत्रयोग। तो करें, जिसको करना है। फिर वे शक्तियाँ उनके शरीर में जाग्रत् होती हैं, वाणी में जाग्रत् होती हैं उनका उपयोग वे अपने स्वार्थ के

लिये करें, या समाजसेवा के लिये करें उनकी मरजी है। तन्त्र हैं, तन्त्रयोग है। तो तन्त्र की और यन्त्र की मदद से, शरीर के भिन्न-भिन्न भागों पर क्रियायें करते हुए या प्रक्रियायें करते हुए सुप्त शक्तियों को जगाने का तंत्रयोग में रास्ता है। वैसे तो तंत्र, मंत्र और यंत्र हमेशा साथ जाते हैं। 'यंत्र' यह पारिभाषिक शब्द है। जैसे श्रीयंत्र बनाते हैं, चक्र बनाते हैं।

जैसे शरीर के स्तर पर कोई व्यायाम करे, सरकस में जाने के लिये, अखाड़े में कुस्ती सीखने के लिये या अन्य प्रकार से। वैसे ही यह मन के स्तर पर अनेक शास्त्रों के द्वारा, अनेक प्रक्रियाओं को करते हुए शक्तियों को अनुभूतियों को जगाया जा सकता है। बड़ा मजे का विश्व है यह। व्यक्त के परदे के पीछे यह अव्यक्त जो अतीन्द्रिय विश्व है और स्थूल शरीर के पीछे जो अंदर सूक्ष्म शरीर है बड़ा मनोवेधक और मजे का विश्व है। जो उस में घूमना चाहे घूमें, करें शक्तियों को जाग्रत्। हठ योग है, वह शरीर के सर्वांगीण शुद्धिकरण की मार्फ़त जगा देता है शक्तियों को।

ऐसे, इस देश में इतनी बड़ी हमारी विरासत है—rich heritage philosophical, scientific. कोई धारणा शक्ति का अभ्यास करे। धारणा से धृति बनती है। याने जो देखा-सुना उसको धारण करना। एक बार जो देखा वह ऐसा हो गया अंकित, केवल मस्तिष्क में नहीं, रोमरोम में, कि जब उस की जरूरत पड़े, तब उसको reinvoke किया जा सके, जो सुना, जो देखा, जिसका स्पर्श हुआ— उसको जगाया जा सके। धारणा का अभ्यास करना, इसको concentration कहते हैं। एकाग्रता का अभ्यास। एकाग्रता, अनेकाग्रता, सर्वाग्रता–ये concentration के अभ्यास में अनेक प्रक्रियायें हैं। शतावधानी बनने तक मनुष्य जा सकता है। उसके पास दूरदर्शन, दूरश्रवण की शक्तियाँ आती हैं। कुंडलिनी जाग्रत् होती है।

इन में रुचि होना कोई अपराध नहीं है यदि किसी की हो जाय तो। लेकिन इसका ध्यान से और अध्यात्म से तनिक भी संबंध नहीं है इतना हम समझ लें। यह मेरा अनुनय है, विनय है आप से। यह ध्यान का क्षेत्र नहीं है, क्रिया-प्रक्रिया का क्षेत्र है। मन की शक्तियाँ बढ़ाना, बुद्धि को बढ़ाना, उन का विभूतिमत्व बढ़ाना। उस में असामान्यत्व प्राप्त करना। दूसरों पर प्रभुत्व उसके द्वारा प्राप्त हो सकता है। अलौकिकता प्राप्त करना, हो सकता है। मैं ने तो थोड़े ही मार्गों का निर्देश किया है लेकिन अपने पास तो अनेक हैं। भक्तियोग है, जिस में भावसाधना है, भावकाया का निर्माण है, भावकाया का जतन है, संवर्धन है। इस में भी अनेक प्रकार की शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं।

लेकिन इन सबका ध्यान से संबंध नहीं है । 'मैं जप करता हूँ' कहा जा सकता है, 'मैं चक्रभेदन की प्रक्रिया सीख रही हूँ' कहा जा सकता है लेकिन 'मैं ध्यान कर रहा हूँ, कर रही हूँ, ध्यान करना सीखा मैं ने, यह शब्दप्रयोग अवैज्ञानिक है–क्योंकि ध्यान कोई क्रिया–प्रक्रिया नहीं है ।

ध्यान तो सभी मानसिक क्रियाओं का स्वेच्छापूर्वक समेट लेना है । मन की सभी क्रियाओं का समेट लेना है, मन की सभी गतियों का शान्त होना है । जहाँ काल भी ठिठक जाय-रुक जाय, जहाँ space या अवकाश भी सिमट कर बिन्दु में आ जाय और काल भी सिमट करके बिन्दु का रूप धारण करे, जहाँ बावन मातृकायें सिमट कर, ओँकार की साढ़े तीन मात्रायें भी सिमट कर के बिन्दु का रूप धारण करें । गतियाँ शांत होकर स्थिति के बिन्दु में समा जाँय और बुद्धि की, मन की सब कलायें, षोडश कलायें सिमट कर के शून्य नाम की, मौन नाम की सत्रहवीं कला में या बिन्दु में स्थिर हो जाँय वह ध्यान एक अवस्था है । क्रिया नहीं, प्रक्रिया नहीं, अवस्था है । बिन्दु-शेष रहने की अवस्था है । सकल नहीं, निष्कल नहीं, अकल अवस्था में प्रवेश है । सकल-कलाओं के सहित, निष्कल–कलाओं को समेट कर के लेकिन धारण कर के बैठे हैं, अकल हो गये—कलाओं के अतीत चले गये । गतियों से अतीत क्रियाओं से अतीत । अतीत जाना याने transendence.

ध्यान का प्रयोजन हमने देखा और ध्यान क्या नहीं है इसको देखा हमने । ध्यान क्या है इस बिन्दु पर हम आ खड़े हैं । वह अवस्था है । केवल मन की अवस्था है ? नहीं । तन, मन, प्राण सभी की अवस्था है । ध्यानावस्था में श्वासोच्छ्वास की गति-लय, रक्तचाप और रुधिराभिसरण की गति ये सब गुणात्मक रीति से बदल जाते हैं ऐसा देखा गया है । तो, ध्यान एक अवस्था है–तन, मन, प्राण, बुद्धि सबकी सर्वांगीण अवस्था है, समग्र की एक अवस्था है । अवस्था— State of being. Meditation is neither a psychophysical activity nor has any technique or methodology verbal physical or psychological. It is a natural state of being individually possible to enter and live. To live in it and to move out of it. तो हमने देखा आज कि ध्यान क्या है ? क्या हो सकता है ?

यह अभिप्राय नहीं है कि आप जो सुनते हैं उन सब के साथ आप सहमत हों । सहमति की अपेक्षा रखकर मैं आयी नहीं । क्योंकि कितने संस्कार पड़े हैं हमारे मनों में–वैष्णव हैं, शैव हैं, हिन्दु हैं, जैन हैं, पारसी हैं, सिक्ख हैं । और

इतने साधना के मार्ग हैं उनमें से किसी मार्ग पर चले हुए हैं। 'clean slate' तो कोई लेकर आता नहीं हैं। संस्कारों की घिस-पिट रहती है। बहुत संस्कार लिखे गये, बहुत पोंछे गये, फिर से लिखे गये ऐसी होती है स्लेट। संस्कारों का गोदाम बना है, godown of conditionings–चीजें पड़ी हुई हैं अस्त व्यस्त। कहीं सुव्यवस्थित हैं, कहीं अस्तव्यस्त लेकिन पड़ी हुई हैं। इतना बड़ा संग्रहालय है यह चित्त, जिसको लिये-लिये, ढोते-ढोते फिरते हैं घूमते हैं।

आपकी नहीं, मैं मनुष्य जाति की बात करती हूँ। मैं एक व्यक्ति से बात करती हूँ तो भी मेरे चित्त में सारी मनुष्य जाति के साथ संवाद है। व्यक्तिशः नहीं है। आप अपने उपर मत लीजियेगा, आप मेरे लिये मनुष्य जाति के प्रतिनिधि यहाँ बैठे हैं। और आपके द्वारा संपूर्ण मनुष्य जाति की यह सेवा हो रही है। उसके लिये यह वाग्यज्ञ कर रही हूँ, इस श्रद्धा से बैठी हूँ।

तो, ध्यान हुआ समग्रता की एक अवस्था, जिसमें कोई भी स्वायत्त क्रिया नहीं है, स्वायत्त गति नहीं है। There is no voluntary movement on the physical, verbal and mental level. ऐच्छिक कोई क्रिया नहीं है। स्वेच्छापूर्वक कोई क्रिया, कोई गति, किसी दिशा में, किसी प्रयोजन से किसी हेतु, किसी अभिसंधि से है ही नहीं। विश्रान्त है। इच्छा करने का volition का, प्रयत्न (effort) का वहाँ संपूर्ण विश्राम है। ऐसी एक अवस्था विश्राम है लेकिन शिथिलता नहीं है। विश्रब्ध-विश्राम है, लेकिन तंद्राभरी-मूर्च्छा भरी शिथिलता नहीं है। अनवधान का आलस्य नहीं है, सावधानता है। तत्परता है, उन्मुखता receptivity है, attentiveness है। लेकिन उस सावधानता में हेतुओं के, इच्छाओं के तनाव-दबाव नहीं, इतना ही मुझे कहना है।

ऐसी यह जो मन की अवस्था, तन की बुद्धि की—प्राणों की अवस्था है तो उसमें जाने के पहले क्या यह देखना ठीक नहीं होगा कि यह मन है क्या? इस मन को शांत करने के लिये, चंचल को स्थिर बनाने के लिये, गड़बड़ करता है, चिन्ता करता है—गुस्सा करता है तो शांत बनाने के लिये हम कोशिश करते हैं। तन क्या है थोड़ा कुछ समझ में आता है। पर यह मन क्या है? जो एक समस्या बन बैठा है सारे संसार के लिये। यह सवाल उठेगा। तो ध्यान क्या है यह देखने के बाद जिस मन नाम के हमारे करण का, अंतःकरण का, अधिक संबंध आता है इस अवस्था से, उसको जरा देख लें।

गणित की तरह एक-एक कदम चलना है। और पचास-सौ व्यक्ति साथ में मिलकर एक कदम उठा सकें अपने मन और बुद्धि से, अपनी समग्रता से, इसके लिये इतने धीरे-धीरे चल रहे है। सौ आदमी साथ चलते हैं तो वह सीखना

पड़ता है, एक-दूसरे के साथ चलना। यहाँ तो सिखाया नहीं जा सकता लेकिन साथ चलना बड़ी मजे की बात है। आपका बाँया कदम उठे तो मेरा बाँया ही उठे। आपका दाहिना कदम उठे तो मेरा दाहिना कदम उठे। इस प्रकार चलते हैं तो चलने में से संगीत पैदा हो जाता है, केवल साथ चलने में। क्योंकि साथ धरती को स्पर्श करते हैं, साथ धरती से अलग होते हैं कदम, साथ आगे बढ़ते हैं, साथ रुकते हैं; इस साथ में संगीत पैदा करने की शक्ति है। तो, जो धीरे चल चल रही हूँ उसका कारण है कि सौ चेतनाओं को साथ चलना है।

मन क्या है? कहाँ है? दिमाग में? मस्तक में है? वक्ष में है? कहाँ पड़ा है? हाथ में है? मुट्ठी में है? मन शब्द में चित्त आया, बुद्धि आई, अहङ्कार आया। आपके भारत वर्ष में तो मन कहने मात्र से चारों का समावेश हो जाता है। English भाषा में उसको mind कह लीजियेगा। बुद्धि तो पड़ी है, जिसको मस्तक कहते हो उसके भीतर, brain पड़ा है वहाँ। synthetic matter, grey matter विद्यार्थियों को विद्यालय में दिखाते हैं कि कैसा होता है यह मस्तिष्क? लेकिन मन नहीं पड़ा है वहाँ मस्तक में। वह मस्तक में भी नहीं है, वक्ष में भी नहीं है। तो कहाँ है यह अंतःकरण, यह शरीर के किसी भी एक विशिष्ट अंग में नहीं है। जैसे, physical heart दिखायेंगे कि वक्ष में है। फेफड़े (lungs) भी हैं वक्ष में। लेकिन मन का स्थान शरीर के किसी विशिष्ट अंग में नहीं है। तो फिर कहाँ है? किस जगह है? आपके मस्तक से लेकर पाँव के नख तक नख-शिखान्त आपके भीतर वह है।

अच्छा, तो नखशिखान्त है तो भाई हृदय को तो दिखा देते हैं कि मुट्ठी के आकार का है। मस्तिष्क का भी कोई आकार है। लेकिन मनका कोई आकार नहीं है। मन की काया स्पन्दनात्मिका है। Mind has a vibrational structure. स्पन्दनात्मिका काया है मनकी। और जितना हमारा शरीर है उतना वह फैला हुआ है अंदर। तो ये स्पन्दन किस चीज के बने हैं? कैसे पैदा हुए? कहाँ से ये सब आये? ये संस्कारों के स्पन्दन हैं। Vibrations due to the amalgamation of conditionings. शिक्षण प्रशिक्षण में से संस्कार होते गये। ज्ञान-अनुभूति में से, प्रतिक्रियाओं के ढाँचों में से, मूल्यांकनों में से, आघात-प्रत्याघात में से वे संस्कार हुए। हम कोई कर्म करते हैं। दस दिन पदयात्रा की। या चार दिन शिबिर में रहे। तो चलना या शिबिर में रहना तो समाप्त हुआ, आप घर चले गये। लेकिन आपके अंदर अस्थि और मज्जा तक इसका residue इसका अवशेष 'संस्कार' के रूप में रहेगा। सुख

और दुःख के रूप में नहीं। आनंद आया, मज़ा आया इतना नहीं। यह तो बहुत स्थूल हो गया। 'अनुकूलसंवेदनं सुखम्, प्रतिकूलसंवेदनं दुःखम्'। ये सुख-दुःख तो चले जायेंगे। समय उनको धो डालेगा। उनसे भी सूक्ष्म चले जाते हैं ये संस्कार। और फिर रक्त में मिल जाते हैं। हड्डियों के ढांचों में मिल जाते हैं। मज्जाओं में घुस जाते हैं। क्या अर्थ हुआ ? आदिम मनुष्य से लेकर आज तक, याने जहाँ जिस बिन्दु तक इतिहास में, मानवीय इतिहास में आप खड़े हैं उस बिंदु तक, जो कुछ मनुष्य जाति ने किया, सोचा, समझा, लड़ाइयाँ की, साम्राज्य बनाये, शोषण किया, खून बहाया जो कुछ भी मनुष्य-जाति ने किया—परिवारों में, राज्यों में, समाज में, एकांत में—वह सारा का सारा आपके और मेरे भीतर संचित है। Every individual carries the residue of the total human history in his or her psyche. तो वे जो सारे संस्कार पड़े हैं उन संस्कारों को, उन संस्कारों के स्पन्दनों को हमने नाम दिया 'मन'। Indian classical approach to spirituality.

भारत में जो परंपरागत अध्यात्मवादी हैं वे मेरी बात मानेंगे ऐसी मुझे जरा भी आशा नहीं है। फिर भी जो देखा है उससे वफादार रहना मेरा धर्म बन जाता है। 'ब्रह्म सत्यं जगत्स्फूर्तिः, जीवनं सत्यशोधनम्'। सन्त विनोबाजी ने कहा है कि ब्रह्म सत्य है, जीवन उस सत्यमय ब्रह्म का उन्मेष है। और हमारे जीवन का प्रयोजन है यह जो सत्य है, ब्रह्म और जगत् के ऐक्य का, उसको खोजना। उसकी खोज और उसकी उपलब्धि मनुष्य जीवन का प्रयोजन है। देखा यह गया है कि मन हमारे सारे अस्तित्व में फैला हुआ है, समाया हुआ है। It's an inner body जिसको आज रूस के, अल्बेनिया, रूमेनिया के लोग thought body के नाम से पहचानने लगे हैं। वे कहते हैं यह स्थूल शरीर gross body है उसके अन्दर एक thought body है। विचारकाया जिसको कहा जा सकता है। इस विचारकाया के अन्दर एक तीसरी काया है ऊर्जाकाया। Energy body उन्होंने नाम दिया है। और आपको मालूम है Energy is never idle. Energy is equal to constant movement. It can be either horizontal, vertical at the same time vibrational movement or it can be flowing merely horizontal movement. तो ऊर्जा कभी गति के बिना नहीं रहती है। वह गति ऊर्ध्व भी हो सकती है और धरती के समानांतर भी हो सकती है या दोनों गतियाँ एक साथ मिल करके स्पंदन भी बन सकती हैं। अपनी जगह के जगह में स्पन्दन हो रहे हैं। उसमें सब दिशायें समा गयीं।

स्पंदनात्मिका काया है यह। स्पंदन पड़े हुए हैं शरीर में, समाये हुए है। उसकी झनझनाहट संवेदनशील व्यक्ति को प्रतीत होती है। अब ये क्या काम करते हैं ? काम बड़ा मजे का करते हैं। आपने आँख खोली उसी क्षण से प्रारंभ करें। सुबह हुई, आपने आँख खोली। आँख ने कोई रूप देखा, पदार्थ देखा। पदार्थ देखते ही भीतर ये जो स्पंदन पड़े हैं अनुभवों के, ज्ञान के, वे जागे। बतलाया गया है कि इस पदार्थ का यह नाम है। अमुक रंग का अमुक नाम है। अमुक आकार के लिये यह संज्ञा है। यह त्रिकोणात्मक है, चतुष्कोणात्मक है, oblong है, वर्तुलाकार है। यह सब कहा गया है। रङ्ग, रस, रूप; अरे! सुख और दुःखों की भी व्याख्या है। पाप और पुण्यों की भी व्याख्या है। आपके और मेरे भीतर अंकित है वह। रक्त के बिंदु-बिंदु में समा गये हैं व्याख्यायें, मूल्यांकन। वे त्याज्य हैं कि ग्राह्य हैं यह भी सिखाया गया है। तो आँखने पदार्थ देखा वह देखने की क्रिया में ही मूल्यांकन हो गया, ग्राह्य-त्याज्य का निर्णय हो गया। सुख का-दुःख का निर्णय हो गया। यह कैसे हुआ ? electromagntic speed से जो काम करता है। देखा नहीं, अभी देख ही रहे हैं। ये सब कैसे हो गया ? क्योंकि भीतर में संचित पड़े हैं संस्कार। The playback of those conditionings takes place with every contact with external world.

बाह्य जगत् से किसी भी इन्द्रिय के द्वारा जहाँ संबंध आया, अरे संबंध नहीं संपर्क आया, संपर्क आया और सहवास हुआ, सांन्निध्य हुआ कि अंदर के अंदर, अर्थघटन हो गया। बोले नहीं, अभी हाथ-पाँव हिले भी नहीं हैं, केवल आँख ने देखा है केवल कान ने सुना है, उतने में इतना काण्ड हो जाता है। जो संस्कार हैं वे काम करते हैं। जो स्पंदनात्मक थे वे काम करने लगे और फिर आपको पता चलता है। आप कहते हैं कि यह मुझे अच्छा लगता है, प्रिय लगता है या अप्रिय लगता है। यह ग्राह्य प्रतीत होता है यह त्याज्य लगता है। यह चाहिये, यह नहीं चाहिये। चाहने की, न चाहने की वासनायें भी संस्कारों पर आधारित हैं। आश्रित हैं कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं। तो, यह मन इस ढंग से काम करता है। व्यक्तियों को देखा तो वही मामला है। पदार्थ को देखा तो वही मामला है, परिस्थिति को देखा तो वही मामला है। उद्भूत हो जाते हैं संस्कार और फिर निश्चित रूप धारण कर लेते हैं, मनुष्य को लगता है कि मैंने विचार किया। Every thoght is a response of memory. इस युग के महान् चिंतक हैं जे. कृष्णमूर्ति। उन्होंने संज्ञायें बनादी हैं। वे कहते हैं कि हम को लगता है कि हम विचार करते हैं; वह कुछ नहीं, सिर्फ़ स्मृति का प्रतिसाद है। मैं कहती हूँ कि यह स्पन्दनों का playback है। बात बदल जाती है, अभिव्यक्तियाँ बदलती हैं, सत्य एक ही है, सनातन है। तो इतना ही अभी देखना

है कि यह जो मन नाम की अन्तःकाया है, वह केवल करण नहीं है, वह जो हमारी अन्तःकाया है, फैली हुई स्पन्दनात्मिका, इस की गति हमारे स्वाधीन नहीं है। अतीत ने इस में गति भर दी हैं।

बहुत बड़ी हद तक अपने जीवन में गतियों को हम पैदा भी कर लेते हैं, absorb भी कर लेते हैं, आत्मसात् भी कर लेते हैं, अपने आप विचार किये बिना भी ले लेते हैं। भण्डार हो जाता है भीतर गतियों का, ऊर्जाओं का। एक-एक विचार भी ऊर्जा है, एक-एक भावना में ऊर्जा है, वासना में ऊर्जा है, आवेग पैदा करने की शक्ति है, आवेश-अभिनिवेश पैदा करने की शक्ति है। यह अतीत निर्बल नहीं है, बड़ा सबल है। संपूर्ण मनुष्य जाति का अतीत पड़ा हुआ है, परिवार का है। layer after layer, तह के उपर तह, स्तर के ऊपर स्तर पड़े हैं। जैसे प्याज में छिलके पर छिलके होते हैं वैसे ही संस्कारों की तह की तह पड़ी हैं अपने भीतर। यह मन है।

अब कोई चाहे और मान ले कि इसको सौ फीसदी मैं काबू में रख लूंगा इसका दमन-पीड़न करूँगा, इस को कुचल डालूंगा, इस को हरा दूंगा तो वह व्यक्ति नादान है। मन को जीता नहीं जा सकता। और मन कोई दुश्मन नहीं है। आप की अन्तःकाया से भला आप क्या लड़ेंगे ? और लड़कर कहाँ जाना हैं ? घाव कर के, आघात कर के, क्षत-विक्षत चेतना को लेकर के जीयेंगे ? तो मन दुश्मन नहीं है, अन्तःकाया है। यह साथी है, चिता में साथ सोयेगा और इस के आगे भी चलेगा। क्योंकि विचार और वासना की मृत्यु नहीं होती। इतना हमने देखा है कि मन का और ध्यान का सम्बन्ध है। और इससे आगे कल के प्रभात में देखा जायगा।

ॐ

चतुर्थ प्रवचन

दि. २०-११-८३ प्रात: ६.३०

कर्म और क्रिया इन दो शब्दों से परिचय पाना होगा। क्रिया स्वायत्त नहीं होती है। क्रिया हमारी मरजी से नहीं होती है, उस के सञ्चालन करनेवाले तत्त्व, नियमन करने वाले तत्त्व हम से अलग हुआ करते हैं। जैसे जन्म से शरीर में श्वासोच्छ्वास की क्रिया चलती है। इस श्वासोच्छ्वास की क्रिया को यदि कर्म बनाना है तो दीर्घ श्वास लेना और उच्छ्वास की गति को नियंत्रित करना यह मनुष्य कर सकता है। लेकिन श्वासोच्छ्वास जन्म से ही चलता है, उसके जनक हम नहीं है। भूख लगती है, नींद आती है। तो ये क्रियायें परवश होती हैं, संस्कारों के कारण होनेवाली क्रियायें हैं। आनुवंशिक गुण-दोषों के कारण कोई इच्छा जोर कर बैठती है, कोई वासना दबोच लेती है, कोई प्रवृत्ति अनायास हावी हो उठती है, हम से हलनचलन करा लेती है शरीर का, बुद्धि का। ये सब क्रियायें हैं।

कर्म की निष्पत्ति तब होती है जब मनुष्य सावधान होकर, किसी हेतु से, किसी प्रयोजन से, इष्ट के लिये, लक्ष्य के लिये स्वयं सञ्चालन करता है इन्द्रियों का, बुद्धि, मन और वाणी का, प्राणों का। तब क्रिया में से कर्म पैदा होता है।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।'

यहां जो कर्म शब्द का अर्थ अभिप्रेत है उसको समझ लेना जरूरी है, नहीं तो सुबह से उठे-खाये-पीये-सोये, काम-क्रोधादि विकारों के कारण हलनचलन करते चले गये। इन सब क्रियाओं को ही हम कर्म समझ बैठेंगे। ऐसी भूल हम न करें। तनावों और दबावों की प्रतिक्रियारूप क्रियायें करते चले जायेंगे तो उस में से मुक्ति मिलनेवाली नहीं है। मनुष्य को क्रियाओं के जगत् से instinct and impulses के जगत् से अपने-आपको छुड़ा करके कर्म की यानी action की भूमिका पर लाना है। ऐसा कर्म जिसमें हमारी समग्र हस्ती-total being-लग जाती है, हमारी सपूर्ण हस्ती जिस में काम करती है। Action is a movement in which the total being is involved.

जो आंशिक है वह क्रिया होगी, जो पूर्ण है याने सम्पूर्ण व्यक्तित्व जिस में संयुक्त रहेगा वह कर्म है ऋषि कहते हैं कि शतवर्ष तक की जो आयु मनुष्य के लिये संभवित है, वांछनीय है, इष्ट है, यह सौ वर्ष की आयु कर्म करते हुए हम व्यतीत करें। क्रियाओं के गुलाम हो कर नहीं, बाह्य परिस्थिति के

तनाव या दबावों के प्रति प्रतिक्रिया करते हुए नहीं, समझबूझकर स्वायत्त कर्म करें। मनुष्य का अधिकार है स्वायत्त कर्म करने का। स्वैच्छिक, स्वयं ही आयत्त किया है जिस को वह स्वायत्त। निसर्ग का दिया हुआ नहीं, समाज का लादा हुआ नहीं, अपना कमाया हुआ कर्म करें। तो अपना कमाया हुआ या स्वायत्त कर्म कैसे बनेगा? 'मैं कौन हूँ?' 'मैं क्या हूँ?' 'किस लिये यह शब्द बोलने जा रहा हूँ, यह कर्म करने जा रहा हूँ?' इस को जानने की और समझने की शक्ति है मनुष्य में।

હું કોણ છું? ક્યાંથી થયો? શું સ્વરુપ છે મારું ખરું?
કોના સંબંધે વળગણા છે? રાખું કે એ પરિહરું?'

श्रीमद्राजचन्द्र जिन का आज जन्मदिन है। वे कहते हैं 'मेरा स्वरूप क्या है? 'मैं कौन हूँ?' मेरा संबंध क्या है? इन सम्बन्धों में कहाँ मेरा चित्त चिपका हुआ है? वह ठीक है या नहीं? इन सबका चिन्तन करने के बाद जो हम करते हैं सावधान हो कर, समझपूर्वक, वह कर्म है। नहीं तो मनुष्य क्रियाजड़ हो जाता है।

કોઈ ક્રિયાજડ થઈ રહ્યાં, શુષ્કજ્ઞાનમાં કોઈ,
માને મારગ મોક્ષનો, કરુણા ઉપજે જોઈ.

आत्मसिद्धिशास्त्र में श्रीमद्राजचंद्र लिखते हैं कोई क्रियाजड़ हो जाते हैं। क्रियाओं में यान्त्रिकता है, पुनरावर्तन है। क्रियाओं में आनन्द देने की शक्ति नहीं, भले उस से सुख या दुःख पैदा हो। तो क्रिया और कर्म activity और action का भेद समझना चाहिये। क्यों कर्म करें? इसलिये करें कि कर्म करने का पुरुषार्थ यदि नहीं करेंगे तो क्रियाजड़ होकर रहेंगे, क्रियाओं के गुलाम बन कर रहेंगे। स्वाधीनता में छिपा हुआ जो आनन्द का अमृत है वह हमें नहीं मिलेगा। ऋषि कहते हैं कि कर्म करना होगा और कर्म करनेवाला ही अधिकारी होता है चार पुरुषार्थों का। धर्म हो, अर्थ हो, काम हो या मोक्ष हो, उसका अधिकारी कर्म करनेवाला मनुष्य है। पशुओं के पाप नहीं, पुण्य नहीं, बन्धन नहीं और मुक्ति भी नहीं, संवेदनशीलता होने पर भी। लेकिन मनुष्य के लिये पाप है, पुण्य है, नीति है, अनीति है। क्यों? क्योंकि सोचने की शक्ति उसके पास है। "मननात् मनुष्यः" To reflect, to contemplate. स्वसंवेद्यता है मनुष्य के पास। अपने आपको जानने की, पहचानने की शक्ति है। और यह जो उसके पास स्वसंवेद्यता—की शक्ति the faculty of self awareness—है, यह बड़ी मजे की है। यह multi-dimentional energy है। एक साथ सोचना, क्या सोच रहे हैं इस को जानना,

वह सोचने के अनुसार कर्म करना ये सब मनुष्य के लिये संभव हैं। आप सुन रहे हैं, मुझ को देख रहे हैं, सुने हुए शब्दों का अर्थ समझ में आता है या नहीं इस को भी पहचान रहे हैं। जो समझ मे आता है उसके साथ सहमति है या नहीं इसका फैसला भी अंदर हो रहा है। इतनी सारी क्रियायें अंदर चल रही हैं। मनुष्य विश्व की एक प्रतिकृति है।

गौरव है कि हम कर्म कर सकते हैं। गैरजिम्मेवारी से हो, सभानता में नहीं हो, वह कर्म नहीं है। तंद्रा में, मूर्च्छा में, विकारवश हो कर जो किये जाते हैं उनको कर्म कहना वाणी का मिथ्या व्यापार है, दुरुपयोग है। कर्म नहीं करेंगे याने समझबूझकर, जिम्मेवारी से, स्वसंवेद्यता का उपयोग करते हुए नहीं करेंगे तो फिर क्रियाओं में फँसे रहेंगे। विकारों के आवर्तन में, संस्कारों के आवर्तन में, पुनरावर्तन में फँसे हुए रहेंगे।

कर्म मुक्तिदाता है, बंधनापादक नहीं है। **'चित्तशुद्धयर्थं कर्माणि।'** कर्म में चित्तशुद्धि और जीवनशुद्धि होती है। कल हमने देखा कि संतुलन ही शुद्धि है और असंतुलन अशुद्धि है। शुद्धि इस प्रकार होती है कि विकार या विभाव या संस्कारों की गति के कारण जो इन्द्रियाँ चलती रहती हैं, कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ विकारवश या संस्कारवश होकर चलती रहती हैं, हमेशा गतिशील रहती हैं। उन में केवल भूतकाल का ही repitition होता है। The past repeats itself, using your senses intellect, mind etc. प्रतिक्षण के अवगुंठन में जीवन की चिरंतनना, सनातनता सामने आती है। जीवन की यथार्थता का, वर्तमान नाम के क्षण में सामने आई शाश्वती का, स्पर्श नहीं होता है जो यांत्रिक क्रियाओं में फँसे हुए हैं उनको। अतीत के सड़े हुए पानी में उस मनुष्य का जीवन डूबा हुआ रहता है। वर्तमान का स्पर्श हो तो अतीत शुद्ध होता है। शतकोटि वर्षों की चढ़ी हुई धूल परम्पराओं पर से हट जाती है जब चेतना को वर्तमान की यथार्थता का स्पर्श होता है। लेकिन जो विकारवश हैं, जो संस्कारवश हैं, जो सावधान नहीं हैं, अनवधान के अंधकार में ही गाफिल पड़े रहते हैं, क्रियाओं की नशीली गति की मादकता में जो मोहित होकर पड़े रहते हैं वे साठ साल जीये क्या? अस्सी साल जीये तो क्या? जीवन का स्पर्श नहीं है। चैतन्य का स्पर्श नहीं है।

इसलिये सावधान रहना है, स्वायत कर्म करना है जिस से अतीत हावी न हो और अपने ही पुनरावर्तन के लिये या प्रक्षेपण के लिये, Projection के लिये आप का उपयोग न करे। हम सब अतीत के शिकार हैं। The past trying to project itself and impose itself upon

the present to create a future which will be just an extension of the past. हमारा सारा जीवन रूढ़ियों, परंपराओं, मान्यताओं, धारणाओं, इच्छाओं, वासनाओं का विस्तार है। इन में ताज़गी आये जीवन की, इसके लिये आवश्यक है कि क्रियाओं से सावधान होते हुए कर्म का पुरुषार्थ करें। यह अधिकार है मनुष्य का। पशुओं का अधिकार कर्म का नहीं, मनुष्य का अधिकार है। आश्वासन क्या है इस में कि जैसा कर्म करेंगे वह इस क्षण किया हुआ कर्म, बीज हो जायेगा अगले क्षण के जीवन की गुणवत्ता का स्वरूप बनाने के लिये। जीवन के ताने-बाने के निर्माता हम बन सकते हैं।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

मंत्र का उत्तरार्ध है कि कर्म से मनुष्य बंधन में नहीं पड़ता है, कर्म का लेप नहीं लगता है मनुष्य को, जिस प्रकार के कर्म की बात हमने अब तक की, उससे। चिंतन का विषय हैं वेद और उपनिषद्। आत्मा और परमात्मा का शब्दों में खड़ा किया हुआ शिल्प है। जीवन के परम सत्य का ध्यानावस्थित होकर किया गया यह शब्दाङ्कन है शिल्प है, नादमय, शब्दमय, स्वरमय। इसके साथ खेल नहीं हो सकता।

तीन बातें आप के सामने रखीं। क्रिया का और कर्म का भेद, क्रिया बंधन पैदा करती हैं और कर्म मुक्तिदाता है, कर्म से चित्तशुद्धि—जीवनशुद्धि होती है क्योंकि अवधान के आलोक में असंतुलन टिक नहीं सकते। हमें अवधान पसंद नहीं है, हमें पुनरावर्तन और यांत्रिकता पसंद है क्योंकि उसमें कोई मेहनत नहीं पड़ती। You do not have to exert your intelligence do not have to exert your mind and think. मनुष्य देह होते हुए भी पशुवत् आचार करना हमें प्रिय लगता है। इसलिये पुरुषार्थ कहा गया। पुरुष शब्द का अर्थ पुरुष और स्त्री नहीं लेना है। नहीं तो स्त्रियाँ कहेंगी पुरुषार्थ क्यों कहते हैं? ऐसा नहीं। देह नाम के पुर में जो विराजता है वह है पुरुष। जिस अर्थ में मीराजीने वृंदावन में कहा था कि हमको नहीं मालूम था कि गोपाल के सिवा यहाँ और कोई पुरुष है।

कर्म के लिये क्या आवश्यक हुआ? 'मैं कौन हूँ?' 'मैं क्या हूँ?' यह जानना। 'यह विश्व क्या है? इसके साथ मेरा सम्बन्ध क्या है?' यह समझना और फिर उस संबंध को जीने के लिये, उस संबंध को व्यक्त करने के लिये काया, वाचा, मनसा गति धारण करना वह कर्म है। इससे अन्यथा करोगे तो?

'ये के च आत्महनो जनाः।'

आगे आनेवाले मंत्र में आयेगा। आत्महनन करनेवाले लोग हैं जो कर्म का पुरुषार्थ नहीं करते हैं और यांत्रिक क्रियाओं में विकारवशता या संस्कारवशता में पराधीन बनकर रातों के पीछे दिनों को घसीटते ले जाते हैं। वे जीते नहीं है। वे तो धीरे–धीरे आत्महनन की तरफ बढ़ते हैं। तो कर्म को और सम्बन्धों को बंधन मानना या बंधन का स्रोत मानना अपसिद्धांत है, गलतफ़हमी है, भ्रम है। जैसे बरतन मलने से रोज स्वच्छ होता है वैसे सभी इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि इत्यादि कर्म करने से शुद्ध होते रहते हैं। इन पर प्रमाद की धूल नहीं चढ़ती, न मन पर, न बुद्धि पर। चिंतन करते हैं तब बुद्धि पर धूल नहीं चढ़ती। संवेदनशीलता जाग्रत् है तो मन पर धूल नहीं चढ़ती।

'प्रमादो वै मृत्युः।' प्रमाद मृत्यु है। अप्रमत्तयोग साधना है। **'अप्रमत्तेन वेद्धव्यम्।'** अप्रमाद अवस्था में जीना है। इसलिये अवधान में शुद्धिकरण है। अवधान में सन्तुलन है। **'न कर्म लिप्यते नरे।'** डरना नहीं, कर्म करने से बंधन में नहीं पड़ोगे। क्योंकि और एक युक्ति अपने को कल देखने को मिली थी कि **'युद्धयस्व विगतज्वरः'**। जो सम्बन्धों के धर्मक्षेत्र–कुरुक्षेत्र में जन्म से मृत्यु तक जाना पड़ता है, उसमें से गुजरना पड़ता है, वहाँ राग और द्वेष से विरहित होकर कर्म करना है, यह कह दिया।

अनुसंधान रखना है जो संबंध है अपना परम सत्य के साथ उसका। **'मामनुस्मर'**। 'माम्' याने वसुदेवपुत्र वासुदेव को याद करने के लिये कहा ? नहीं।

वासनात् वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वभूतनिवासोऽसि वासुदेव ! नमोऽस्तुते ॥

भूतमात्र के हृदय में जिनका निवास है, जिनके वास से सुवासित है सम्पूर्ण विश्व ऐसे वासुदेव। 'मामनुस्मर' याने उनका अनुसंधान रखते हुए कर्म करें। न कर्म बाँधता है न सम्बन्ध बाँधते हैं। कर्म हम किस प्रकार करते हैं वह पद्धति बाँधती है। सम्बन्धों में किस प्रकार हम उतरते हैं, उनमें से किस प्रकार गुज़रते हैं उसमें बन्धन पैदा होता है। हम बन्धन पैदा न करें तो पैदा नहीं होते हैं।

'શાસ્ત્રીઓએ કીધી યુક્તિ, કલ્પ્યો બંધને માની મુક્તિ.'

बन्धन भी कल्पना है और मुक्ति भी कल्पना है, यह सब इसीलिये कह सके कि बन्धन और मुक्ति दोनों हम पैदा करते हैं। फिर बन्धन का कांटा निकालने के लिये मुक्ति नाम के काँटे का उपयोग करते हैं।

ॐ

पञ्चम प्रवचन

दि. २०/११/८३ प्रातः ९,३०

मौन का अभ्यास साधक की दिनचर्या का एक अनिवार्य अंग बन जाना चाहिये। नहाने-धोने के लिये समय निकालते हैं, पेट पालने के लिये-परिवार संभालने के लिये चौबीस घंटे में से छ-सात या आठ घंटों का समय दिया जाता है। नींद के लिये सात-आठ घंटे दिये जाते हैं लेकिन परम सत्य की खोज के लिये, आत्मपद की उपलब्धि के लिये मनुष्य समय देना नहीं चाहता है। बहाने बन आते हैं रोज़-रोज़। लेकिन चौबीस घंटे में से दो-तीन घंटे का समय भी experimentation, exploration in the world within के लिये कोई देता नहीं है।

आज जिनका जन्म-दिवस है वे श्रीमद् राजचंद्र बत्तीस-तैंतीस वर्ष की आयु में, जो इष्ट था. वहाँ तक पहुँच पाये। गृहस्थाश्रमी व्यक्ति, व्यापारी, पेढ़ी पर बैठनेवाले, लेकिन उन्होंने एक क्षण का प्रमाद अपने जीवन में होने नहीं दिया। ग्राहक आया, बातचीत की, ग्राहक चला गया, धर्मग्रंथ खोलकर बैठ गये या लिखने के लिये अपनी नोटबुक खोल करके बैठ गये। मुंबई नगरी जिसको राजचंद्र 'मोहमयी' कहा करते, उस नगरी में रहते हुए यह नौजवान समय निकाल पाता था। अलग समय नहीं, जहाँ अपने दायित्व से, काम-धंधे से पांच मिनट, दस मिनट की फुरसत मिली कि उनकी खोज शुरू, उनका एकांत शुरू, उनका चिंतन शुरू। सारे संसार की सेवा करनेवाले महात्मा गाँधीजी को समय मिल पाता था—रोज सुबह चार-साढ़े चार की प्रार्थना के लिये, सन्ध्या की प्रार्थना के लिये। और हम हैं जिन्हें या तो गृहस्थाश्रम बहाना बनता है या समाजसेवा बहाना बन जाती है। और जो आंतरिक खोज है—'નિજપદ લહું નિજમાંહી' इसके लिये—अपने में ही अपना जो मूलपद है, जो स्वरूप है, निजरूप है उसको पाने के लिये हमारे पास समय नहीं। क्योंकि कहीं न कहीं मन में कल्पना पड़ी है कि कोई सिद्ध, कोई अवतारी, कोई योगी, कोई जोगी मिल जायेगा और वह (readymade liberation) बनी बनाई मुक्ति 'instant coffee' की तरह जरा दूध-पानी में घोल करके पिला देगा।

पुरुषार्थ के प्रति उदासीनता, आधुनिक मानव का एक लक्षण बन गया है। वह पुरुषार्थ शारीरिक हो, बौद्धिक हो, मानसिक हो। कहना चाहती हूँ कि रोज ऐसा समय निकाला जाय, जब आप को फुरसत मिले। उत्तम है यदि रात

को तीन बजे से सुबह के छ बजे के बीच समय मिल सके। और फिर यदि संध्या का समय मिल सके। घर का कोई कोना ही सही, आँगन में किसी पेड़ की छाया ही सही। न हो तो घर की छत है वहाँ बैठकर ही सही। संध्या में, प्रभात में, रात्रि में नीरव एकांत में चले जाना चाहिये। यदि हम समझना चाहते हैं कि गतिमुक्त स्थिति का आयाम क्या है। यदि हम समझना चाहते कि नादमुक्त शून्य या मौन का आयाम क्या है, यदि हम जानना चाहते हैं कि सम्बन्धों के आवरण उतार डालने पर जो एकाकीपन मिलता है, जो हमारा होनेपना, जो हमारी सत्ता रह जाती है—वह है क्या चीज़? तो उसकी खोज के लिये समय निकालना होगा। प्रवचन सुनने मात्र से, ग्रन्थों के अध्ययन मात्र से काम नहीं चलेगा। प्रयोग करने पड़ेंगे, खोज करनी होगी अपने हाड़-मांस में।

समय निकाला जाय, निद्रा पूरी हो चुकी हो या नहा-धो चुके हो या दिनभर का काम पूरा हो चुका है और फिर नहा-धो करके स्वस्थता से बैठ सकते हैं—ऐसे समय में। कम से कम पैंतालीस मिनट। डेढ़ घंटा हो तो बहुत ही अच्छा। धुले हुए, साफ कपड़े पहन लेने चाहिये—जिनको अभ्यास करना है है मौन का। दिनभर के इस्तेमाल किये हुए कपड़े, रातभर पहने हुए कपड़े पहन कर मौन में न बैठा जाय। कपड़ों में इच्छाओं के, वासनाओं के, विचारों के स्पन्दन घुस जाते हैं। एक अव्यक्त मलिनता कपड़े में व्याप्त हो जाती है, दूषित हो जाता है वस्त्र। धोने पर भी कुछ संस्कार निकलते हैं, कुछ नहीं निकल पाते। तो एकाध कपड़े का जोड़ रखा जाय जिसको मौन के अभ्यास के समय व्यक्ति पहन सके। रंगीन न हो तो अच्छा, क्योंकि रंग के भी स्पंदन होते हैं। लेकिन रंगीन रखना ही है तो हलके रंग के कपड़े हों। गाढे रंग के व बड़े छापे वाले न हों। आप कहेंगे कि छपाई-आकृतियाँ भी न हों? जी हाँ। आकृति के भी अपने परिणाम होते हैं चित्त पर, जैसे रंग के होते हैं वैसे। जिस आसन पर आराम से बैठा जा सकता है, उसी आसन में बैठा जाय। **'स्थिरसुखम् आसनम्'**। बीमारी है कोई, आसन नहीं लगा पाते हैं, तो सेहारा लिया जाय। पाँव लम्बे पसार कर बैठना पड़ता है तो वह भी किया जा सकता है। शर्त एक है कि गरदन सीधी हो, मेरुदंड सीधा हो। ताकि श्वासोच्छवास ठीक से चल सके। शरीर जब झुका हुआ रहता है, एक तरफ़ ढला हुआ रहता है तो श्वासोच्छ्वास की गति पर परिणाम होता है। और फेफड़े न ठीक से हवा अंदर ले पाते हैं, न ठीक से बाहर निकाल पाते हैं। जो मेरुदण्ड को सीधा रखकर बैठने के अभ्यस्त नहीं हैं उनकी श्वसनक्रिया पर बहुत परिणाम हो जाता है। न पूरा दीर्घश्वास ले पाते हैं, न कुम्भक साध कर के रसको अन्दर

रख पाते हैं, न पूरी तरह से भीतर की दूषित हवा को बाहर निकाल पाते हैं। The lack of flexibility and the pliability of the lungs gives place to rigidity which leads to reduced capacity for free breathing–inhaling and exhaling. पूछियेगा डांक्टरों से, वैद्यों से तो आपको बात समझ में आ जायगी। घर में जमीन सीमेन्ट की हो, पत्थर की हो, तो मेहरबानी करके उस पर कोई कम्बल बिछा करके, फिर चादर बिछा कर बैठा जाय, सीधे केवल चटाई से काम न लिया जाय, नहीं तो शरीर को नुकसान हो सकता है। मिट्टी–गोबर से लीपी हुई जमीन है तो सीधे भी बैठ जायें तो मुश्किल नहीं हैं, या चटाई पर बैठा जाय तो हर्ज नहीं है। लेकिन आजकल जमीनें होती हैं सीमेन्ट की या पत्थर लगे हुए होते हैं, मार्बल्स लगे हुए होते हैं। मौन के अभ्यास के लिये वे अनुकूल नहीं पड़ते। बैठ गये और देख लिया पाँच मिनिट दस मिनिट में कि शरीर में कहीं न कहीं तकलीफ शुरू होती है। कमर में, घुटने में, गरदन में तो पता चलता है कि शरीर में ऐसे अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं जो मुक्त नहीं हैं। अपने ध्यान में आ जाता है तो मनुष्य किसी की सलाह से कोई व्यायामादि करके, आहारादि परिवर्तन करके वह जो जकड़न है उसको हटा सकता है।

इतना प्रेम होना चाहिये जीवन से–ज़िंदगी से और यह जो जिज्ञासा है सत्य की उससे। जिज्ञासा यदि केवल बौद्धिक कुतूहल है तो यह सब पुरुषार्थ करने की न प्रेरणा मिलेगी, न उसमें सातत्य रखने के लिये धारणा शक्ति मिलेगी। लेकिन सच्ची जिज्ञासा हो तो यह सब मनुष्य कर पायेगा। शरीर को ठीक भी कर लिया और वह प्रेमपूर्वक आपका सहयोग देने लगा। आँखें खुली रखीं, या बंद की, अपनी-अपनी मरजी की बात है। लेकिन बंद रखने में संरक्षण है क्योंकि आखें रूप देखेंगी तब तक स्मरणशक्ति काम करती रहेगी। पदार्थों के नाम बतलायेंगी, सहचारी भाव जगायेंगी, स्वीकार-अस्वीकार की वृत्ति जगायेंगी, भोग या त्याग की वासना जगायेंगी! आँख को यदि बन्द रखते हैं तो संरक्षण है, चित्त के लिये। लेकिन बंद रखने पर भी कल हमने देखा वैसे विचारों का आवागमन चलेगा जो रोका नहीं जा सकता, जो हमारे आधीन नहीं है। उसके लिये उपाय बतलाया था कि देखते रहें। एक निर्दोष, स्थिर दृष्टि जिसमें वह विचार क्यों है, क्या है, कैसे है, अच्छा है, बुरा है—यह सब कुछ जानने की इच्छा नहीं है, उसके विश्लेषण में उतरने की इच्छा नहीं है।

उसके विश्लेषण का एक रास्ता पश्चिम के मानसशास्त्री ने निकाला है। Analytical approach is a peculiarity of scientific

investigation. वहाँ जो सत्यान्वेषण की पद्धति है उसमें वे विश्लेषण करते चले जाते हैं। psychology, psychoanalysis psychiatry विश्लेषण में पड़ते हैं। 'यह विचार कहाँ से आया, कैसे आया, क्यों आया, माँ जिम्मेवार है कि दादी जिम्मेवार है इसके लिये ? कोई dramatic experience आया था ? गर्भावस्था में कोई अत्याचार हुआ था ? क्या है क्या नहीं ?' और वे मानते हैं कि इस प्रकार का विश्लेषण करने से जब व्यक्ति को पता चलेगा कि वासना और विचार क्यों है तो उसकी चेतना मुक्त हो जायेगी इससे। psychoanalysis से लेकर primer screan तक लोग चले गये हैं। व्यक्ति-विश्लेषण से लेकर सामूहिक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा तक पहुँच गये हैं। उसमें से तरणोपाय नहीं निकल पा रहा है। व्यक्ति कुछ समय के लिये सामाजिक सम्बन्धों में और जिम्मेवारियों में वापस लौट जाता है। और फिर से असंतुलन का शिकार भी बनता है क्योंकि विश्लेषण मात्र से निराकरण नहीं हो पाता।

केवल ज्ञान से जैसे मोह नष्ट नहीं होता वैसे केवल विश्लेषण से त्रुटियों का या निर्बलताओं का निराकरण नहीं हो पाता। Understanding after analysis is one thing and total wiping out or elemination is another. एक प्रकार की उलझन शांत हो जाय इस समय के लिये तो दूसरी दस प्रकार की खड़ी हो जाती हैं। यह स्वभाव है मन का और चित्त का।

अतः क्यों विचार आया, कैसे आया, कहाँ से आया, इसके विश्लेषण में हमें पड़ना ही नहीं है। हमें द्रष्टृत्व-शक्ति का उपयोग करना है। यह द्रष्टृत्व शक्ति है हमारे स्वरूप में समाई हुई। बुद्धि जब देखती है तो उसको प्रयास करना पड़ता है। बुद्धि शब्द के द्वारा देखती है, शब्दों के माध्यम से अर्थघटन करती है, शब्दार्थ-मुक्त प्रतिक्रियाओं से अपना काम चला लेती है। बुद्धि प्रयत्न में लगी हुई है। कोई चीज देखी, कोई परिस्थिति आई, कोई पदार्थ आया, व्यक्ति आई, देखा, अर्थघटन किया, अतीत में से उसके उपाय ढूंढे, सोचे, निकाले, लागू किये। लेकिन बुद्धि का देखना एक प्रकार का है जो शब्द के और समय के माध्यम से देखती है। दूसरा देखना है, हमारे अस्तित्व में छिपा हुआ, समाया हुआ द्रष्टृत्व जो आत्मा का स्वभाव है, क्रिया नहीं है।

हम कहते हैं कि आप शांति से बैठें। निरामय, निरापद होकर बैठ गये हैं, शरीर साथ दे रहा है और मन अपने भीतर से उँडेल-उँडेल करके जो संचित ज्ञान, अनुभव, संस्कार इत्यादि है उसका ढेर आँख के सामने निकाल के रख रहा है। ऐसी हालत में एक-एक ले करके उसका कोई निराकरण करने बैठेंगे तो अन्त नहीं आयेगा, सौ वर्ष की, डेढ़ सौ वर्ष की जिन्दगी हो तो भी

अन्त नहीं आयेगा। वह ढेर निकल आता है, एक के बाद एक, उसको केवल देखें, और कुछ न करें। यह प्रतिक्रिया-मुक्त देखना सीखना पड़ता है। पहले देखते हैं और प्रतिक्रिया उठी, उठती आई। प्रतिक्रिया को देख लिया। जहाँ प्रतिक्रिया को देखने गये, वह शांत हुई, फिर अपने मूल विचार को देखने लगे। तो देखते हैं, कि देखना छूट जाता है, फिर देखना शुरू होता है। ऐसी एक अवस्था आती है। उसमें धीरज और शांति रखनी चाहिये।

बड़ी उमर में यानी पचीस-तीस साल के बाद जो सीखना शुरू करते हैं उनके साथ एक दिक्कत है कि उनमें अधीरता बहुत होती है, धृति कम। छोटे बच्चों को तो कह देंगे कि घर में बैठो, होमवर्क करो, लेसन करो, शांति से बैठो। और खुद जब बैठते हैं तो चार दिन नहीं बैठे कि पाँचवें दिन हिसाब लगाने लगते हैं कि चार दिन में क्या हुआ, क्या नहीं हुआ। दस मिनिट बैठे तो उनका मन ऊब गया। 'बोर' हो गये। बड़ी आयु में यह जो धृतिशक्ति है, धारणाशक्ति है उसकी संपदा, उसकी पूंजी नहीं होती है। वह खर्च कर डालते हैं संसार में, रगड़-झगड़ में, नौकरी-धंधे में, पति-पत्नी-कुटुम्ब के सम्बन्ध में। वह जो धारणा-शक्ति है वह घिस गई होती है, इसलिये जब मौन में बैठते हैं तो पाते हैं कि मनमें सहन करने की शक्ति नहीं है।

वह यदि है और देखते रहेंगे तो दूसरा एक संकट खड़ा हो जाता है कि जब विचार, वासनायें, अनुभव सामने आकर साक्षात् खड़े हो जाते हैं या तो छवि के रूप में, चित्र के रूप में या शब्द के रूप में, उसी समय मनुष्य के हृदय में निर्णय होता है "यह भला है, यह बुरा है। मेरे चित्त में ऐसा पाप क्यों? मेरे चित्त में यह वासना कैसे? दुनिया मुझे जानती है कि मैं बड़ा संयमी व्यक्ति हूँ और मेरे भीतर यह पड़ा हुआ है?" बस गुस्सा आया अपने ऊपर। "मेरी ख्याति है, लाग जानते हैं कि ये बड़े मृदुभाषी हैं और मेरे भीतर इतनी कठोरता? लोग मानते हैं कि ये कोमलचित्त व्यक्ति हैं और मेरे भीतर इतनी कटुता है, कठोरता है। लोग मानते हैं शांत हैं और मेरे भीतर क्रोध है?" जब वे चीजें सामने आती हैं; जानी, पहचानी, पुरानी तो मनुष्य की अपने बारे में बनायी हुई जो प्रतिमायें हैं वे एक के बाद एक टूटने लगती हैं। उदार मानती है दुनिया और अपनी क्षुद्रता सामने आ जाती है जब मौन के लिये बैठे हैं।—अभी मौन आया नहीं, छाया भी नहीं। अभी तो द्रष्टृत्व और साक्षित्व के अभ्यास का समय है। अभी उसकी दहलीज तक पहुँचे हैं। Sitting on the threshold of silence, in the dimension of observation. प्रतिमायें टूट जाती हैं कि मैं तो ऐसा था, मेरी माँ कहती थी, मेरी पत्नी कहती है, मेरे मित्र

कहते हैं और यह क्या मेरे भीतर कूड़ा-कर्कट-कचरा पड़ा है? तो अहङ्कार को ठेस लगती है—'यह पड़ा है मेरे भीतर?' और देखने में से मन उठ जाता है, भाग-खड़े होने की इच्छा होती है कि बस हो गया, बहुत हो गया देखना। ऐसे देखता रहूँगा तो आत्मग्लानि आयेगी, लघुताग्रंथि आयेगी, इसलिये मुझे देखना ही नहीं है। बचाव की तरफ आदमी चला जाता है या आत्मसमर्थन की तरफ़ चला जाता है कि यह जो विकार मुझमें है वह इसलिये है कि मेरी माँ ऐसी थी, मेरे दादा ऐसे थे। देखने की निर्दोष अवस्था में चित्त ठहर नहीं पाता है। वह सीखना पड़ता है।

यह सङ्कट भी पार कर लिया किसी ने और देखते रहे। कब तक देखना पड़ेगा? जब तक दृश्यों के देखने का अन्त नहीं आता। कितने समय में अन्त आयेगा? क्योंकि आधुनिक मनुष्य] उपयुक्ततावादी है। उसको 'टाइम-टेबल' चाहिये, स्कूल में, विद्यालय में होता है वैसे चाहिये उसको। और यदि कह दें कि रोज़ के आठ घण्टे बैठने से होगा, कहेगा समय नहीं है। क्योंकि पेट पालने के लिये आठ घण्टे नौकरी जो करनी है वह तो अनिवार्यता है। यह अनिवार्यता नहीं है। अध्यात्म में साधना नहीं हो पाती क्योंकि उसकी अनिवार्यता नहीं है। कोई जबरदस्ती आप पर करने वाला नहीं है, कोई दबाव नहीं है, तनाव नहीं है सिवा कि एक मृत्यु की चिरउपस्थिति। उसका यदि भान हो जाय तो फिर मनुष्य को लगता है कि जितना समय लगा सके इसमें लगा दे। समझ तो लें एक बार।

अतः समय कितना लगेगा यह तो व्यक्ति जाने। उत्कटता है तो घड़ी भर में काम हो जाय! एक दिन में हो जाय। घोड़े पर बैठने जा रहे हैं, एक पांव रकाब में है और दूसरा अभी चढ़े भी नहीं कि इतने में साक्षात्कार हो जाय सत्य का। हाथ में ग्रास है, मुख में डाला नहीं है और एक कहीं शब्द सुना तो भी हो जा सकता है। समय कितना लगेगा, व्यक्ति की तैयारी पर निर्भर है। जिज्ञासा की उत्कटता पर निर्भर है। उसके स्वभाव पर निर्भर है।

दृश्य दिखना बन्द हो जाय—तब तक देखना है। और दृश्यों का दिखना जब शांत होता है तब द्रष्टा अपने आप विलीन हो जाता है। उसको अलग प्रयत्न से विलीन नहीं करना पड़ता। क्योंकि दिखता है तभी तक द्रष्टा का भाव है। अब कुछ नहीं दिखता, न विचार, न भावना, न वासना, न विकार। कुछ भी नहीं उठ रहा है। शून्य है भीतर। तो यहाँ द्रष्टृत्व अपने आप विलीन हो जाता है। अहंकार का जो शेष कर्म रह गया था, वह भी चला गया।

द्रष्टाभाव के विलीन होने पर मौन नाम के आयाम का प्रारंभ है। अब आप शून्य हैं, क्योंकि वहाँ कर्तृत्व, भोक्तृत्व, द्रष्टृत्व नहीं है। कोई भूमिका नहीं है। कोई functional role नहीं रह गया है। वृत्तियों में फैले हुए आप सिमट कर एक बिन्दुरूप बन गये अब। और आपके आसपास भी शून्य छाया हुआ है। मौन का एक अथाह सागर है, जिस में दिशा का बोध नहीं हो पायेगा। जिस में कहीं गन्तव्य भाव नहीं उठ सकता है। कर्तव्य-भाव भी नहीं उठ सकता है। और द्रष्टृत्व तो शान्त हो ही चुका था। ऐसे मौन के एक अथाह सागर में समा गया कर्तृत्व और द्रष्टृत्व। सिंधु में जैसे बिंदु समा जाता है। वह बिंदु तब तक था जब तक सिंधु से अलग था; सिंधु में गया तो जल बन गया, बिंदु न रहा। अलग उठा के रखें तो बिंदु का रूप आ सकता है, व्यक्तित्व आ सकता है। लेकिन जहाँ वह बिंदु सिंधु में गया और मिल गया, तो उसका बिंदुरूप न रहा, वह जलरूप पा गया। वैसे आत्मा का संकोच होते-होते जो अहंता नाम की ग्रंथि, जो बिंदु बना हुआ था, वह मिट गया—कर्तृत्व, भोक्तृत्व, द्रष्टृत्व के छूट जाने से। मौन के सागर में वह ऐसे मिल जाता है कि उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती, उसकी कोई अलगता नहीं रहती। वहाँ आप और मौन अलग नहीं रहते। शुरू-शुरू में कहते हैं कि कुछ नहीं दीखता, मुझे कुछ नहीं दीखता, मैं कुछ नहीं देख पाता, अब क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? फिर कहता हूँ मुझे शून्य ही शून्य दीखता है। यह अतल है, इसका कोई तल नहीं, अन्तपार नहीं—यह भी कहता है। और बाद में शून्याकार हो जाती है व्यक्ति की चेतना। तो, 'मैं देख रहा हूँ' यह भान भी वहाँ नहीं रहता। शून्य देख रहा हूँ, यह सामने शून्य है या कोई पदार्थ नहीं है—यह भी वह कह नहीं पाता। यह जो मौन की सृष्टि है और मौन का आयाम है इस से आप का परिचय हो तो अच्छा। इतना नम्रतापूर्वक कहना है।

हमारा परिचय पदार्थों से है, आकारों से है, रंग-रूप-रस से है लेकिन पदार्थ जिस निराकार अवकाश में रहते हैं उस अवकाश से हमारा परिचय नहीं है। आँखें खुलती है तो जा कर के सीधी टिकती हैं किसी न किसी पदार्थ पर। वह दूर हो तो इस मण्डप का खम्भा है, वहाँ जा कर के टिक जायेंगी। यदि वहाँ से उठा तो खेत हैं सामने, तो खेत में लहलहाती हुई जो फ़सल है उस पर जा कर टिकेंगी। नहीं तो वह छोटी-सी जो पहाड़ी है वहाँ चढ़ जायेंगी। लेकिन नज़र ढूँढती है कोई न कोई पदार्थ, रूप, आकार, रंग जिस पर जा कर वह आश्रय ले सके, टिक सके, ठहर सके और वहाँ से कोई संवेदन वापस ला सके कि 'यह मेरा अनुभव है, यह मैं, ने देखा'। लेकिन पदार्थों के और

आप के बीच, पदार्थों के और हमारे बीच यह जो अन्तराल हैं, the emptiness of space हैं, यह जो आकाश का अवकाश है—इस पर कभी नजर डाली हैं ? कभी किया है आकाश दर्शन ? पदार्थ के आश्रय से जाकर ठहरने वाली, वहीं जा कर भिड़ने वाली, टिकने वाली और कुछ न कुछ अनुभूति के रूप में वापस लाने के लिये लालायित जो नज़र है इस को कभी निराकार से सम्बन्धित होने का शिक्षण हमने दिया है ? आखिर आकारों की व्याप्ति कम है और निराकार है उस की व्याप्ति अधिक है। यह आकाश जो निर्गुण, निरामय, निर्लेप, निराकार, लगभग सर्वव्यापी है, यह हमारी आँखों के सामने है उस से हमारा सम्बन्ध नहीं है। नज़र का, वृत्ति का, भाव का सम्बन्ध नहीं है। अपने भीतर भी आकाश तत्त्व है उस से भी सम्बन्ध नहीं है। पृथ्वी तत्त्व से तो है, यह मेरी देह है। ये हड्डियाँ, उस में अस्थियाँ हैं, मालूम पडती हैं। स्नायु, मज्जा, माँस-पेशियाँ सब मालूम पडता है। लेकिन अस्थि के भीतर भी आकाश है, वहाँ तक हमारी नज़र पहुँचती नहीं है।

बाहर के आकाश में अनन्त रहस्यों का, ऊर्जाओं का खजाना भरा पड़ा है इस का जो संग करेगा, इस का सहवास करेगा, इस को जो देखेगा, और इस के साथ जियेगा उस के जीवन में परिवर्तन घटित हुए बिना नहीं रहता। तो जहाँ दृश्यों का दिखना समाप्त हो गया और द्रष्टा-भाव गया, वहाँ एक निराकार, निर्मल, निरामय ऐसी शून्य की सत्ता है और अहंचेतना भी घड़ीभर के लिये शून्याकार हो गई है। The conditioned consciousness is totally relaxed in t he dimension of silence. What are the implications of total relaxation? The conditioned mind of the conditioned consciousn-ess has emptied in the process of observation. यह जो देखने का पर्व था उस में अपने भीतर जो कुछ आशय भरा था, मन ने सारा उँडेल दिया, वह रिक्त हो गया, इसलिये शून्य होने में उसे फिर देर नहीं लगती।

यह अनुभवगम्य है, यह प्रयोगगम्य है। कोई सिद्धांत आप के सामने नहीं रखा जा रहा है। अब पहली बार जीवन में एक ऐसे मुकाम पर आप पहुँचे हैं जहाँ शरीर के किसी भी भाग पर—नाड़ीतंत्र पर या स्नायु पर, कहीं भी—विचार का तनिक भी तनाव या दबाव नहीं है। आगे बढ़ने से पहले यह देखना होगा हमें कि विचार अपने-अपने तनाव पैदा करते हैं। यह आप लोगों ने देखा है या नहीं ? भावना अपना दबाव पैदा करती है यह आपने देखा है कभी ? कोई भी संकल्प हुआ, विकल्प हुआ, विचार आया—अपने लिये, समाज के लिये,

परिवार के लिये–तो विचार तो शब्दमय होता है, शब्द के बिना तो विचार नहीं हैं; शब्द में नाद है और अर्थ है, शब्द का जो अर्थ है उसका कोई भाव है। तो विचार उठा याने शब्द आया। पश्यन्ती वाणी के स्तर पर जब विचार उठता है तब उसके न होते हैं नाद, न शब्द। जब मध्यमा में वह विचार चला आया तो नाद ग्रहण कर लेता है। अभी नाद है, ध्वनि है लेकिन शब्द नहीं बना है। वह वैखरी तक पहुँच गया तो वहाँ नाद शब्द बन गया। यह यात्रा, विचार की यात्रा अपने भीतर देखने की एक बड़ी रम्य वस्तु है, बड़ी मज़े की घटना है। तो अब केवल नाद और अर्थ नहीं, अब तो शब्दसंपन्न हो गया विचार। फिर वह वैखरी में से निकलेगा या नहीं भी निकलेगा, अंदर भी रह सकता है। इतनी यात्रा जब हुई तो पहले तो विचार का उठना, उस में ही आघात हुआ। कहाँ आघात हुआ? मन्द या बहुत मृदु लेकिन यह आघात हुआ कहाँ? दो जगह। जो गात्रवीणा के दो तुम्बे हैं—एक है मस्तक और एक है उदर। तो विचार के उठते ही तनाव पैदा होते हैं उदर में और मस्तक में। ये जुड़े हुए हैं कुछ महत्त्वपूर्ण ज्ञानतंतुओं के कारण, नाड़ियों के कारण। ये जुडे हुए हैं, जैसे वीणा के तार सजे हुए हों, सधे हुए हों। शिथिल भी नहीं है और बहुत कसे भी नहीं हैं ऐसे सधे हुए, सजे हुए। सजा हुआ साज हो उसके तार जैसे होते हैं। वैसे स्वस्थ व्यक्ति की अवस्था है। और जब उस में नाद आया तो अब नाड़ीतंत्र पर हलके-हलके आघात और स्पन्दन होने लगे। उसने शब्दरूप धारण किया, अर्थ और भाव स्पष्ट होने लगे। विशदता आयी मध्यमा वाणी के स्तर पर, वहाँ तो तनाव पूरी तरह से प्रफुल्लित हो गया। अब खिल उठा है, अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचता है और उसका स्फोट–शब्द का स्फोट याने तनाव का भी स्फोट होता है। वैखरी वाणी में से जब स्फुट होता है शब्द तब कहीं तनावमुक्ति आपको मिलती है। भावनायें आयीं—ईर्ष्या उठी, क्रोध उठा असूया–मत्सर उठे या करुणा आयी चित्त में, ममता उठी, आसक्ति या या वैराग्य जो भी उठा तो उनके परिणाम इन दो तुम्बों पर पहले होते हैं। और बाद में वे स्पन्दन फैलते हुए—जैसे भावना है, इच्छा है, वासना है तो पहले परिणाम करेगी गुर्दों पर। विचार का तनाव पहले जिगर (यकृत) पर प्रहार करेगा। तो शरीर में, उदर में जो अवयव हैं वहाँ वे तनाव, दबाव फैलते हैं। फिर ऊपर चढ़ते हैं। आपका अनुभव होगा कि बहुत गुस्सा आये तो आदमी की आवाज भी नहीं निकलती है। दम घुटने लगता है। भय पैदा हो तो पेट सिकुड़ जाता है। क्रोध चढ़ता है तो आँखें लाल हो आती हैं। Optical and auditory nerves become tense. देखने लायक चीज है, रोज

के व्यवहार में । इस के लिये किसी expert के पास जाने की जरूरत नहीं। एकाध सप्ताह अपने भीतर के व्यवहारों को आप देखेंगे तो पता चलेगा कि कोई भी विचार या भावना या प्रतिक्रिया शरीर में तनाव और दबाव पैदा किये बिना नहीं रहती । इसलिये शरीर का wear and tear (क्षय-संचय) का मामला बहुत बढ़ जाता है । जितना परिश्रम करने से नहीं थकते हैं उतना ये भीतर के आघात-प्रत्याघात जो होते रहते हैं—जिसका पता भी बाहर व्यक्ति को नहीं चलता-इनसे मनुष्य थक जाता है। It's a criminal waste of vital energy और मनुष्य का मन है जो कुत्ते की पूंछ की तरह चलता ही रहता है। मनुष्य की जबान है जो हिलती रहती है । इससे शक्ति का बहुत अपव्यय होता है।

अब मौन के आयाम में पहली बार हम ऐसे मुकाम पर पहुंचे हैं कि शरीर में नख-शिखान्त न कोई दबाव है, न कोई तनाव है। संपूर्ण विश्राम है, पहली बार जीवन में। याने हम जो टुकड़ों में विभक्त थे—विचार है, विचार का तनाव है, तनाव का अनुभव करनेवाली शरीर की इन्द्रियाँ हैं, तनाव के साथ आत्मीयता जोड़नेवाला या उस को दूर हटाने की कोशिश करनेवाला कोई और भी बैठा हुआ है; यह सारा जो चलता रहता है वह सारा व्यापार शान्त है। याने ? याने आप अपनी अखिलाई में वापस लौट गये हैं। मैं ने कहा था पहले दिन कि ध्यान क्या है, home-coming है । बाहर की भटकन का अन्त आकर स्वभाव में लौटने का यह मनोहर प्रसंग है। तो, मौन में तनाव नहीं, दबाव नहीं; इसलिये विलक्षण, प्रासादिक विश्राम है । प्रसादपूर्ण विश्राम है । शब्दों को थोड़ी जिम्मेदारी से आप की सेवा में रख रही हूँ कि वे आप से भी बात करें, जब यहाँ से आप लौटेंगे।

क्यों कहा ललित इस को ? क्यों कहा कि यह प्रसादपूर्ण है ? कारण है महत्त्व का, वह यह कि जब यह मन बुद्धि, चित्त, अहंकार, स्मृति इत्यादि सभी को ले कर के मौन में लीन हो गया है, इस की सारी शक्तियाँ और ऊर्जायें सब समेट कर के वह लीन हो गया है मौन में, तो आप व्यक्तिचेतना की कैद से मुक्त हो गये हैं। Silence is liberation from the clutches of conditioned consiousness मैं ने कहा था अध्यात्म, जीवन का विज्ञान है। यह wishful thinking नहीं है । यह भावुकता की आतिशबाजी नहीं हैं। यह विज्ञान है। और इस विज्ञान की आज बहुत जरूरत है, चाहे पाँच व्यक्ति समझें । तो, जब व्यक्तिचेतना लीन हो चुकी है तो मौन में, शून्य में समाई हुई जो ऊर्जायें हैं, वे प्रगट होने लगती हैं उस व्यक्ति की देह

में। जिन पर अभी तक मनुष्य जाति ने संस्कार नहीं किये हैं ऐसी ऊर्जायें आप के और मेरे भीतर पड़ी हैं। अरे! मामूली-सा, छोटा-सा Brain है, उस के डॉक्टर Brain-experts, कहते हैं, कि Brain का मुश्किल से आधा हिस्सा, या दो-तिहाई, हिस्सा ही मनुष्य उपयोग में लेता है, कम से कम एक-तृतीयांश तो पड़ा ही हुआ है जिस का उपयोग करना ही हम नहीं जानते, उस में क्या शक्तियाँ पड़ी हुई हैं मालूम नहीं है। The frontal lobe of brain. according to the brain-experts is untouched source of infinite energies बड़ा मस्तिष्क और छोटा मस्तिष्क cerebrum & cerebellum इनके संध्रि-स्थान में cavity है। जहाँ अपनी गरदन सेऊपर उठते हैं वहाँ एक छोटी-सी गुफा है, एक छोटी-सी खाली जगह है, cavity कहा जाय उसको, उस में ऊर्जायें भरी पड़ी हैं। मस्तक पर the crown of the head, एक cavity है जहाँ शक्ति पड़ी है ललाट में है, खास कर के दो आँखों के बीच भ्रूमध्य में, एक ऐसी गुफा है जिस को हमारे यहाँ संतों ने 'भ्रमर-गुफा' कहा। भ्रूमध्य या आज्ञाचक्र कहा तो ऐसी जगह पड़ी हुई है, जहाँ कि शून्य का पता चलाया है लोगों ने, लेकिन ऊर्जायें भरी पड़ी हुई हैं जिन के कोई भी संस्कार आज तक नहीं हुए, वे मौन में जाग उठती है और काम करने लगती हैं। In silence, there is release of unconditioned energies. इसलिये मैंने कहा कि यह प्रसादपूर्ण हैं। मौन का आयाम, शून्य का आयाम यह सम्प्रदान करनेवाला है, हम को कुछ देनेवाला है। मनुष्य के व्यक्तित्व में पुनर्जन्म होनेवाला है, उस व्यक्ति का। माँ के गर्भ में जैसे नौ महीने पड़े रहते हैं वैसे अपने भीतर की मौन नामक गुफा में नौ महीने ज़ो पड़ा रहेगा, उसका पुनर्जन्म हुए बिना नहीं रह सकता। वहाँ से नयी ही चेतना, उसके नये लक्षण लेकर मनुष्य लौटेगा, समाज में जीने के लिये।

अब जो शून्य है, बाहर का या हमारे भीतर का, उसका कोई अतीत नहीं है। उसका भूतकाल नहीं है। मस्तिष्क में संस्कार भरे पड़े हैं तो उसका भूतकाल है। आनुवंशिक गुण है, ज्ञातिगत, वंशगत, धर्मगत, देशगत भूतकाल है। और भूतकाल ने ठोक-ठोक करके बनाया है उसे, chiselled out conditioning. लेकिन शून्य पदार्थ ही शून्य है। संस्कार मुक्त है वह। जैसे बारिश बरस जाती है लेकिन आकाश निर्लेप खड़ा है। धूप छा जाती है आकाश वैसा ही है, अपनी निर्लेपता की सम्पदा लेकर खड़ा है। ठंड की ऋतु है और ठिठुर जायें हम ऐसी ठंडक है, आकाश वैसे ही है। ऐसे शून्य जो है वह संस्कारमुक्त है।

इस शून्य में पड़ी हुई जो ऊर्जायें हैं उनके आघात–प्रत्याघात, क्रिया-प्रतिक्रिया का क्रीड़ास्थान है मानो यह व्यक्त। इसीको मैं कहती हूँ कि मौन के आयाम में जो व्यक्ति स्थिर हो गया, अधिक से अधिक समय तक वहीं रहने लगा, संसार की बात करनी है, काम करना है तो उतर आया बुद्धि में और जो करना है उतना काम कर दिया, फिर लौट गया वापस मौन की गुफा में। ऐसे जो व्यक्ति करने लगे तो उसको पता चलेगा कि ये जो शून्य में समाई हुई अनन्त ऊर्जायें हैं वे कैसे काम करने लगती हैं।

बहुत ललित है यह आयाम। लालित्य का अर्थ है कि वहाँ प्रयास नहीं है, सहजता है, effortlessness है। परिश्रम करके, प्रयत्न करके, जैसे तुक बन्दी करके कोई कविता करने जायें तो उसमें प्रसाद नहीं होगा। काव्यशास्त्र की दृष्टि से भले वह निर्दोष हो, उसमें विविध शब्दालंकार हों, उपमा–उत्प्रेक्षा आदि भी हों, किन्तु उसमें प्रसाद होगा ही यह आवश्यक नहीं! ज्ञानेश्वर कहते हैं कि काव्य की शक्ति हो इतना पर्याप्त नहीं है। काव्यशक्ति के साथ–साथ रसिकता चाहिये। याने अणुरेणु में समाया हुआ जो 'रसानां वै रसः' है, उसका रस कैसे भरा हुआ है, इसको देखने की युक्ति चाहिये। और रसिकता के साथ परतत्त्व का स्पर्श हो गया है। जहाँ नज़र पड़े वहाँ विषयों में विश्वात्मा का परमात्मा का स्पर्श पाने की एक कला उस व्यक्ति की नज़र में व्यक्ति चेतना में आ जाती है। तब विषयों के साथ रहना उसका सहज हो जाता है। न वैराग्य की आवश्यकता पड़ती है, न उपभोग का आग्रह रखना पड़ता है। रस संयत हो जाता है। विषय-संबंध,'संपर्क, उस का प्रयोजन अपने आप विसर्जित हो जाता है ऐसा एक लालित्य जीवन में आता है। काव्य में, संगीत में, नाट्य अभिनय में जैसे लालित्य की आवश्यकता है वैसे ही जीवन जीने में है।

या तो लालित्यपूर्ण जीवन जिया जाय या एक-एक सम्बन्ध में से जिया जाय। हम तो अपने आपको बचाने की कोशिश करते, जिन्दगी से बचने की कोशिश करते हुए जी रहे हैं। मरने से भी बचना है, जीने से भी बचना हैं। फिर करना क्या है रे?

'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूंढ़न चली रही किनारे बैठ।'

किनारे बैठ के 'जीवन ऐसा है, ऐसा नहीं है। इसने यह कहा है, इसने वह कहा है' इसकी चर्चा ही लोग करते रहते हैं, जीने की फ़ुरसत नहीं है। अध्यात्म का साधक जीवन-रसिक व्यक्ति है, इसको जीना है। उतरना है पानी में। कमरे में गद्दे बिछाकर हाथ-पाँव फैला करके तैरने का अभ्यास नहीं करना है। और तैरना सीख गया हूँ ऐसा उसको भ्रम भी पैदा नहीं करना है। सचमुच तैरना है।

भले नाक-आँख में पानी क्यों न जाय? पानी के स्पर्श के बिना जैसे तैरना नहीं सीखा जा सकता वैसे पदार्थों के किनारे छोड़े बिना, शब्दों के किनारे छोड़े बिना शून्य के सागर में जो पड़े हुए रहस्य हैं उनका स्पर्श नहीं पाया जा सकता।

फिर तो अभ्यास हो जाता है, मौन में ही जीने का। केवल प्रयोजन के लिये ही, और प्रयोजन हो तभी मनुष्य वाणी के द्वार पर आता है, शब्द निकलते हैं। बाकी मृदंग में समाये हुए शून्य के समान एक व्यक्ति के हाड़-माँस में वह शून्य का जो धाम है वहाँ डुबकी लिये हुए पड़ा हुआ है। रसगुल्ला रस में पड़ा रहता है वैसे मौन के—शून्य के रस में व्यक्ति की चेतना डूबी रहती है।

यदि आप कहेंगे कि इसमें लालित्य कैसे आया वह तो आपने नहीं कहा। विषय बहुत प्रिय है इसलिये विषय को कभी एक बिंदु पर से, कभी दूसरे बिंदु पर से दिखा देने की इच्छा होती है। जैसे आप एक-दूसरे को दिखाते हैं न—'वह देखो सूर्यास्त', 'वह देखो सूर्योदय', वैसे मौन नाम के आयाम में क्या-क्या दिखाई देता है वह आप लोगों को शब्दों की उँगलियाँ पकड़ के दिखाने की इच्छा हो आती है। तो ललित इसलिये है कि जब मौन में प्रतिष्ठित है, तब आँख खुलने पर वह जो मौन में से जन्मी हुई ऊर्जा है वही देखती है। विचार नहीं देखता आँख में से। वासना नहीं देखती। भूतकाल नहीं देखता है। वह शून्य की ऊर्जा, मौन में से जन्मी हुई ऊर्जा, क्या नाम देंगे उसको? मुझे मालूम नहीं है। प्रज्ञा कहेंगे? Intelligence कह लीजिए intellect तो नहीं है। कोई भी शब्द या संज्ञा मैं देने जाऊँ तो उसका कोई न कोई, किसी न किसी शास्त्र के साथ सम्बन्ध होगा। The word will be loaded with the past. पर ऐसी संस्कारमुक्त ऊर्जा, प्रज्ञा काम करने लगती है।

अभी तो हमारा मन देखता है। मन उदास है तो आँखों में से उदासीनता देखती है। आप सुंदर से सुंदर उद्यान में हों तो भी, उस उद्यान के पुष्प अपना सौन्दर्य हम पर बरसायें तो भी चित्त प्रसन्न नहीं होता क्योंकि उदासीनता उस सौन्दर्य को देख ही नहीं पाती। क्रोध आँखों में से देखता है, ईर्ष्या देखती है, महत्त्वाकांक्षा देखती है। तो पलपल में उठनेवाले हमारे विचार आँखों का उपयोग करके, कानों का उपयोग करके अपना काम निकाल लेते हैं। लेकिन जब निर्विचार अवस्था है, वृत्ति-मुक्त चेतना है, ऐसी चेतना में मौन देखता है आँख से और शब्दों में भी मौन उतर आता है। आप परख सकेंगे शब्दों को जो अंदर के तनावों से जन्मे हुए हैं; लूले-लंगड़े-पंगु, शिथिल, उतरते हैं जैसे-तैसे। कुंठित हो गया है हृदय, बुद्धि कुंठित हो गई है

भय के कारण, वधिर हो गई है महत्त्वाकांक्षा के कारण। तब शब्द कुछ कह नहीं पाते। उन शब्दों में से नाद का रस चख नहीं पाते। मुखरित होने पर भी कह नहीं पाते, ऐसे शब्द निकलते हैं। आंतरिक तनाव-दबाव, आंतरविरोध, contradictions, conflicts, tensions इनमें से जन्मे हुए शब्दों की काया कभी देख लेना। कांतिहीन होते हैं शब्द, anaemic words.

जो मौन में चला गया, अपने व्यक्तित्व की समग्रता में चला गया, one who is soaked in the wholeness of his being, उस व्यक्ति की वाणी में से जो शब्द निकलेंगे वे मौन से हृष्ट-पुष्ट, मौन का रस पिये हुए, शून्य के रस से तृप्त-संतृप्त शब्द होंगे। तो आँखों में से मौन की, शून्य की संतृप्ति देखती है। शब्दों में से वही तुष्टि और पुष्टि व्यक्त होती है। इसलिये मैंने कहा कि यहां तो लालित्य है, प्रसाद है। कहाँ तक वर्णन करें?

उन्मनी चे लावण्य! तुरीया चे तारुण्य!
अनादि जे अगम्य परमतत्त्व ॥

ऐसी तुर्यावस्था का बालयोगेश्वर ज्ञानेश्वर वर्णन करते हैं। ऐसी जो उन्मनी अवस्था है, मन से उपर उठी हुई चेतना की अवस्था है, वह तुर्यावस्था चिरषोडशी है, चिरतरुणी है, चिरयौवना है। ज्ञानेश्वर कहते हैं कि युवक-युवतियों की काया में जो लावण्य इठलाता-थिरकता है, अथवा मानो आकाश में संध्या उतर आयी है, रंगों का ऐश्वर्य सारे विश्व पर बरसा रही है। इन सबका सत्त्व निकाल कर मानो उन्मनी और तुर्यावस्था की काया गढ़ी गयी है। यह लावण्य अनादि है, शून्य का लावण्य कभी फीका नहीं पड़ता है। वह कभी मुरझाता नहीं है।

'अनादि अगम्य परम तत्त्व।' वह तत्त्व अनादि है। इसकी गणना, कलना नहीं कर सकते हैं। शब्द का नाप-तौल निकाल सकते हैं। शब्द के रंग-रूप-रस परखे-निरखे जा सकते हैं, तौले जा सकते हैं। नाप-तौल में आ जाते हैं शब्द। लेकिन वह नाप-तौल में नहीं आता है। जीवन की समग्रता से नितरने वाला वह प्रसादमय रस है।

ऐसा मौन का आयाम है, जिसमें नवजीवन का संचार है! नव ऊर्जाओं का संचार है। और इसके कारण व्यक्तियों के व्यक्तित्व बदल जाते हैं। उनमें असाधारणता आती है, अलौकिकता आती है। आकर्षक बन जाते हैं व्यक्ति। Electromagnetic personality हो जाती है। लेकिन यह मौनावस्था भी ध्यानावस्था नहीं है। ध्यान की अवस्था इससे अलग है। कल कहा था कि किसी भी प्रकार की गति वहाँ नहीं है। केवल सत्ता है, होनेपना है। मौनावस्था में गति है। व्यक्ति-चेतना की गति शांत है तो वैश्विक-चेतना की गति में प्रविष्ट है। यह मौन का आयाम भी ध्यान का आयाम नहीं है।

ॐ

षष्ठ प्रवचन

ता. २१/११/८३ प्रातः ६.३०

इस देश में आत्मज्ञान होने से पहले कर्म करना चाहिए ऐसा विधान सर्वमान्य है। ज्ञानपूर्व कर्म और ज्ञान याने आत्मज्ञान। इस देश की संस्कृति में पदार्थज्ञान को ज्ञान कहा नहीं गया है। उसका समावेश अज्ञान में ही होता है, अविद्या में ही होता है। आत्मसत्ता—परमात्मसत्ता के विषय में जो ज्ञान है या विद्या है वही असल में विद्या या ज्ञान माना गया है तो आत्मज्ञान से पहले कर्म करना ही चाहिये, वह स्व-धर्म है मनुष्य का। यह तो माना गया। सब ने माना। पर ज्ञानोत्तर कर्म होना चाहिये कि नहीं याने आत्मज्ञान होने के पश्चात् मनुष्य क्या करे? कर्म करे या न करे? इसको एक विवाद का प्रश्न बना दिया गया। और एक वर्ग खड़ा हो गया विद्वानों का, पण्डितों का, जिन्होंने कहा कि आत्मज्ञान के बाद, समाधि की उपलब्धि के बाद मनुष्य पर कोई जिम्मेवारी नहीं है कि वह कर्म करे। वह संन्यास का अधिकारी हो गया है। और संन्यास याने? civic death. समाज की दृष्टि से उस व्यक्ति की मृत्यु हो गई है, आत्मश्राद्ध करके वह व्यक्ति संन्यास ग्रहण करता है।

ज्ञानोत्तर कर्म की आवश्यकता नहीं है यह कहने वालों ने इस देश का बहुत नुकसान किया है, जनमानस को प्रदूषित कर दिया है। कर्म का विधान ज्ञानपूर्व भी है, ज्ञानोत्तर भी है। यही कारण था कि मण्डाले की जेल में बैठ कर लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक ने श्रीमद्भगवद् गीता पर जो भाष्य लिखा उसको उन्हें 'कर्मयोगशास्त्र' कहना पड़ा। गांधीजी ने कौसानी में बैठ कर श्रीमद्भगवद्गीता को 'अनासक्तियोग' का नाम दिया। और विनोबाजी ने उसको ब्रह्मविद्या का शास्त्र बतलाया। 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे' यह तो कहा ही गया है। आज के प्रभात में थोड़ी चर्चा करना चाहती हूँ कि ज्ञानोत्तर कर्म का त्याग करने का किसी को अधिकार नहीं है। श्रुति कहती है कि—

'न कर्म लिप्यते नरे'
'उस से चिपकती मात्र फल की वासना'।

जो कर्म कर रहे हैं वह हमारा दायित्व है इसलिए कर रहे हैं, न करने में अपराध है। करने से अपने लिए विशिष्ट फल की वासना रखने का अधिकार मनुष्य को नहीं है। न करनें से अपराधी बनेंगे समाज के प्रति। अपनें पास जो

शक्ति है, बुद्धि है, गुण है, तो जीवन को एक यज्ञकर्म समझकर के अपने गुणों शक्तियों बुद्धि और समझ के माध्यम से सेवा करनी होगी। जो लेते हैं समाज से वह ऋण चुकाना है अपने कर्मों से। तो कर्म बाँधता नहीं है यदि उस से अपने लिये, अपनों के लिये विशिष्ट फल की वासना नहीं रखते।

स्वाधीनता–संग्राम में काम किया, कब मालूम था कि स्वाधीनता की लड़ाई में काम करने वाले आजादी देख ही पायेंगे ? देखी आजादी सारे देश ने। अब उस के बाद 'सेवा की है इसलिये पेन्शन लेना है'। और ''मैं' ने स्वाधीनता के संग्राम में काम किया था इसलिये मेरे भाई, भतीजे, बेटे, भानजे इन को सत्ता मिलनी चाहिये, पद-प्रतिष्ठा मिलनी चाहिये'। यह बाँधता है। नरक में जगह नहीं ऐसे लोगों को। जो देश की स्वाधीनता के लिये काम किया, दायित्व समझ कर धर्म समझकर के, उस का ये सौदा करते हैं। कर्म सौदे का विषय नहीं है यह ऋणमुक्त होने का विषय है। तो यदि वासना नहीं है फल की, तो कर्म नहीं बाँधता। कर्म में से कोई न कोई फल निष्पन्न होगा, आप के हिस्से में, उस की जो सफलता या निष्फलता आयेगी, सन्मान या अपमान आयेगा, सम्पत्ति या गरीबी आयेगी उस का स्वीकार करना है, 'दैवं चैवात्र पञ्चमम्' कहते हुए। यह तो एक अङ्ग हुआ इस विषय का।

अब दूसरा अङ्ग देखिये। कौन सा कर्म नहीं बाँधता ? फल की वासना न हो तो कर्म नहीं बाँधता। राग और द्वेषसे मुक्त रहते हुए कर्म करे तो कर्म नहीं बाँधता, यह हमने देखा। दूसरा पहलू आज देखना है कि जो कर्म आत्मज्ञान पर अधिष्ठित नहीं है वह बाँधता है। 'આત્મા છે તે નિત્ય છે'. आत्मा है, परमात्मा है। सृष्टि मनुष्य की बनाई हुई नहीं है। इस सृष्टि की उत्पत्ति के पीछे एक रहस्यमयी सत्ता है, जो प्रतिक्षण नये-नये रूप धारण करती है। रूपों का क्षय भी करती है ऐसी कोई सत्ता है। जिस में नाम-रूप के तरङ्ग उठते हैं, तैरते हैं और मिटते हैं। तो परमात्मा की सत्ता का स्वीकार यह आत्मज्ञान है। परमात्मा की सत्ता से हम जुड़े हुए हैं, अङ्गभूत हैं उन के, organically related to the total divinity, यह जिस ने स्वरूप पहचाना कि मैं केवल हाड़-माँस का पुतला नहीं हूँ, विकार-विचार की राशि मात्र नहीं हूँ, अनंत दिव्य सम्भावनाओं का पुंज मैं हूँ। यह जिस ने पहचाना उसने आत्मरूप पहचाना, स्वरूप जाना है उस ने। तो यदि कर्म इस ज्ञान पर अधिष्ठित हों तो वे बाँधते नहीं हैं। और यह स्वरूप का परिचय न हो, 'मैं कौन हूँ और यह संसार क्या है ? मेरा क्या सम्बन्ध है—अनेकता के साथ, जीवन की एकता के साथ। उस की विलक्षणता, विविधता के साथ, और उसकी अनन्यता के साथ क्या सम्बन्ध

है मेरा'—यह जिन्हों ने नहीं पहचाना, वे दिन-रात, चौबीस घण्टे के बदले अड़तालीस घण्टे कर्म करने के निमित्त से खटते रहेंगे तो उस कर्म में से बंधन पैदा होनेवाले हैं। श्रुति को यही कहना है।

'असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः' ॥

वे आत्महनन करनेवाले जन हैं। कैसे होगा आत्महनन ? आत्मा के विषय में अज्ञान रखते हुए जो कर्म करनेवाले हैं वे आत्मा का हनन करनेवाले हैं। ईशावास्य उपनिषद् मानो सभी वेदों का सार है। एक ईशावास्य उपनिषद् है और एक मधुविद्या का जो अंश आता है ऋग्वेद में; ब्रह्मविद्या, मधुविद्या का। दो अंश यदि पढ़ लें तो वेदों का सार हाथ में आ जाता है।

'ये के च आत्महनो जनाः'। श्रुति कहती है कि आत्मा का हनन न करो। आत्मा के विषय में, अपने स्वरूप के विषय में अज्ञान रखते हुए कर्म करोगे तो कैसे कर्म होंगे ? अहङ्कार के अधिष्ठान पर खड़े कर्म होंगे। वे भय पर खड़े कर्म होंगे। क्योंकि अहङ्कार हमेशा बचना चाहता हैं, जीवन से भी और मृत्यु से भी। वह छलांग लगा कर जीवन की सरिता में उतरना नहीं चाहता। वह किनारे बैठकर हिसाब लगाना चाहता है। सौदा करना चाहता है। संग्रह करना चाहता है। भय न हो तो कोई संग्रह करेगा ? भय न हो तो कोई स्वामित्व-प्रभुत्व के पीछे दौड़ेगा ? दूसरों को डराना, दबाना, झुकाना चाहेगा कोई ? सभी साम्राज्यवादों का जन्म भय में से है। सभी आक्रमणों और हिंसा का जन्म भय में से है। भय और स्वार्थ साथ-साथ रहते हैं। आत्मज्ञान होने के बाद संकीर्ण स्वार्थ रह नहीं पाते। **'यद् वै भूमा तत् सुखम् । नाल्पे सुखम् अस्ति ।'** अपने को समेटते हुए, आत्मा का संकोच करते हुए, जो सर्वव्यापी है उस को एकदेशी बनाना, एक ज्ञाति का बनाना, एक परिवार का बनाना, एक देह में उस को कैद मानना यह आत्महनन है। आत्मा की व्याप्ति का बोध होने के बाद कर्म की गुणवत्ता बदल जाती है, कर्म का स्वरूप बदलता है। वह कर्म सब के लिये होता है और सब में मैं भी हूँ इसलिये मेरे हित में ही होता है। मैं आप को cosmogenesis of non-violence कहना चाहती हूँ। जिस सत्य में से अहिंसा की उत्पत्ति है, जिस सत्य के बिना अहिंसा ठहर नहीं सकेगी, उस सत्य का बोध आज के प्रभात में हम पायें।

वह कर्म नहीं बाँधेगा जो आत्मज्ञान के आधार पर खड़ा है। जो आत्मा के आधार पर नहीं खड़ा है, देह को ही जिन्हों ने परम सत्य मान लिया वे देहपरायण बनेंगे, उन को इन्द्रियों के सुखःदुख ही सब से अधिक महत्त्व की

बात लगेगी। इसलिये सुखपरायण व्यक्ति सुरक्षापरायण बनेगा। Pleasure mongering mind becomes security minded obssessed with security. देहपरायण बना। 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ? यह देह मरने के बाद लौटना तो नहीं है, चाहे जो कर लो, मूल्य खतम हो गये। देहपरायण व्यक्ति के चित्त में कोई भी जीवन का शाश्वत मूल्य नहीं रह सकता है। और आज की सभ्यता और संस्कृति में कोई absolute values of life नहीं रह गये। जीवन के कोई निरपेक्ष, शाश्वत, सनातन मूल्य नहीं रह गये हैं। देहपरायण व्यक्ति मानने लगता है कि देह को जिलाना ही जीना है। देह को जिलाना पड़ता है अवश्य लेकिन देह को जिलाना यानी यह हाड़-माँस की धौंकनी में श्वास चलता रहे इतना ही जीवन का अर्थ नहीं है। मूल्यों को जिलाना है। अपने आत्मपरिचय की अवस्था को जिलाना है। आत्मपरिचय की अवस्था को जिलाने के लिये, मूल्यों को जिलाने के लिए जो कर्म होता है वह मुक्तिदाता है, अन्य कर्म बंधनापादक हैं, बंधन पैदा करते हैं। तो आज भारत का और संसार का समाज इस कर्म की माया में लिपटा हुआ, दलदल में फँसा हुआ, व्यथित है, पीड़ित है अपने आप से। उसका कारण है कि वह देहपरायण है, इसलिये भोगपरायण है, इसलिये सुरक्षापरायण है। और सुरक्षापरायण व्यक्ति कभी किसी के साथ मैत्री नहीं कर पाता। वह मैत्री क्या कर पायेगा जो डरा हुआ है। आत्मज्ञान के बाद भय-चिन्ता नहीं है, इसलिये सुरक्षा की चिन्ता नहीं है। सुरक्षा न हो ऐसा नहीं लेकिन उस की चिन्ता नहीं है। वह जीवन का लक्ष्य नहीं है। **'न कर्म लिप्यते नरे'**। उसके आगे कहना पड़ा कि—

'मानी गयी हैं योनियाँ जो आसुरी,
छाया हुआ जिन में तिमिर घनघोर है,
मुड़ते उन्हीं की ओर मर कर ये मनुज
जो आत्मघातक शत्रु आत्मज्ञान के।'

संत विनोबाजी जैसे एक समर्थ विद्वान ने यह अनुवाद किया है। तो उन्होंने कहा कि वे योनियाँ जो आसुरी मानी गयी हैं वहाँ जाते हैं आत्मघाती लोग। **'असुपरायणाः असुराः'**। जो केवल अपने प्राण, केवल अपनी चमड़ी बचाना चाहते हैं, यह श्वासोच्छ्वास की धौंकनी बचाना चाहते हैं उन को विनोबाजी ने कह दिया असुपरायणाः असुराः। जो अपनी ही चमड़ी बचाना चाहते हैं, प्राणपरायण हो गये हैं वे असुर लोग हैं।

कौन बनते हैं प्राणपरायण, देहपरायण ? जिन को यह पता नहीं है कि मैं अजर–अमर आत्मा हूं, **'चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।'** न जनमनेवाली, न मरनेवाली जो जीवन की सनातन सत्ता है उस का एक उन्मेष हूँ

मैं। इस देह में रहनेवाला देही हूँ और देह में रहते हुए विदेही मुझे बनना है। तो जो आत्मा के विषय के घन अंधकार में, अज्ञान में फँसा हुआ है। 'घन तिमिरान्ध' कहा। कौन सा तिमिर है ? कौन सा अंधकार है ? **'अज्ञान एव अंधकारः ।'** अज्ञान ही अंधकार है। बाहर के तिमिर को और अंधकार को आप मत देखियेगा। जहाँ सूर्य नहीं प्रवेश कर सकता है वह अंधकार ? नहीं रे नहीं। स्वरूप के विषय का अज्ञान जो घोर तिमिर है। वहाँ फिर मोह आता है और मूढ़ता आती है और मूढ़ता से विवेकभ्रष्टता आती है। इत्यादि-इत्यादि। विस्तार में नहीं उतरूँगी, लेकिन कहना चाहती हूँ कि मर कर उस योनि की तरफ मनुज जाता है।

इतने ही अर्थ से मुझे संतोष नहीं। सयुक्तिक अर्थ है, श्रुति के अक्षरों से प्रामाणिक अर्थघन है लेकिन कुछ और भी गम्भीर है, और भी कुछ गहरा अर्थ है कि जीते जी भी मनुष्य उस आसुरी योनि में चला जायेगा, घन तिमिर में, अंधकार में, तमोगुण में चला जायेगा, यदि वह आत्मज्ञान पाता नहीं है। और आत्मज्ञान के अभाव में जो कर्म करता चला जाता है वह कर्म उसको बाँधते चले जाते हैं इसलिये आत्मा का हनन होता है। मालूम नहीं सायणाचार्य ने क्या लिखा है। प्रभाकर की वृत्ति में क्या लिखा है। अन्य भाष्यकारों ने क्या कहा है और भगवान् आद्यशङ्कराचार्यजी से क्षमा माँगती हूँ। क्योंकि उन्होंने ज्ञानोत्तर कर्म का विधान नहीं किया। 'संन्यास लेने का अधिकार हो गया, समाधि प्राप्त हुई फिर उसकी कोई जिम्मेवारी नहीं है। समाज का जो होना हो, सो हो।' अरे जिज्ञासु बन गये अध्यात्म के तो समाज की कोई जिम्मेवारी नहीं है यह हम मान लेते हैं। ज्ञानोत्तर संन्यास ही अनिवार्य है और ज्ञानोत्तर कर्म का विधान नहीं है। मानों वह अपराध है। यह कह कर भारतीय जीवन विज्ञान को, अध्यात्म को, लोगों ने बड़ा संकीर्ण बना दिया और देश का नुकसान हुआ।

एक तो है नियतिवाद, कि गरीब हैं तो अपने कर्म से गरीब हैं, दुःखी हैं, भूखे हैं तो अपने कर्म से हैं हमें उससे क्या लेना-देना ? हमारा कोई कर्तव्य नहीं, भुगत रहे हैं जो किया है—यह कह कर आस्तिक और धार्मिक व्यक्ति को निष्ठुर बधिर (callous) कठोर (harshhearted) बना दिया है। करुणा-विगलित होना उसको मालूम ही नहीं है क्योंकि मान लिया है कि यह पुनर्जन्म है और इन्होंने पिछले जनम में कुछ बुरा किया इसलिये भुगत रहे हैं। फिर छूती नहीं है किसी की दुर्दशा। हमें दुःख नहीं होता, व्यथा नहीं होती है कि देश में अडतालीस प्रतिशत लोग भूखे-नङ्गे हैं। हमें इच्छा है कि हजार है, तो लाख

करूँ लाख है तो करोड़ों करूँ । smuggling करो black marketing करो, black-market की parallel economy चलाओ । इस देश के अड़तालीस प्रतिशत लोग भूखे-नङ्गे होते हुए यदि बाकी लोगों को यह प्रेरणा होती है तो इस देश को धार्मिक कहने से पहले सौ बार सोचना चाहिये । पशुओं के प्रति तो है ही नहीं करुणा, अरे मनुष्य के प्रति भी नहीं है, पड़ौसी के प्रति नहीं है । यह धार्मिकता का अर्थ है ? 'हम तो भाई भजन-पूजन में लगे हैं, हम आत्मसाधना में लगे हैं, कोई दायित्व नहीं, कोई जिम्मेवारी नहीं' ।

मित्रो ! इसका जो metaphysical basis है वही गलत है यह मुझे कहना है । और केवल 'गलत है' कह कर छोड़ नहीं देना है । मैं कहना चाहती हूँ कि केवल मनुष्य के देह में ही कर्म करने का अधिकार है, बाकी देहों में क्रियाएँ हैं । Instinctive, impulsive activities. वे कर्म के अधिकारी नहीं है । आत्मज्ञान के आधार पर, इन्द्रियों के गुण-दोष समझते हुए, कर्म के हेतु, प्रयोजन समझते हुए, मानवीय जीवन का लक्ष्य समझते हुए जो किया जाता है वह कर्म है । बाकी स्वार्थपरायण लोग खटते रहें, मेहनत करते रहें, व्यापारी, उद्योगपति और राजनीति में काम करनेवाले । पैसे के लोभी लोग कम मेहनत करते हैं ? रजोगुणी लोग, क्रियाग्रस्त-क्रियाव्यस्त रहनेवाले कम मेहनत करते हैं ? उस में से कर्मयोग सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि अधिष्ठान नहीं है । वह अधिष्ठान के विना जैसे बाजीगर जादू का पेड़ पाँच मिनट में खड़ा कर के दिखा देता है वैसे ये अधिष्ठान के बिना के कर्म मिट्टी के बने हुए फल हैं, जो दिखते सुंदर हैं लेकिन जिन को खाया नहीं जा सकता ।

उन में जीते जी मनुष्य उन आसुरी योनियों में याने अज्ञान के अनेक जो कक्ष हैं, चला जाता है । अज्ञान का ही एक कक्ष अहङ्कार है, अज्ञान का दूसरा कक्ष मोह है, माया हैं; अज्ञान का कक्ष है क्रोध, ईर्ष्या, हिंसा । घोर कक्ष बने हुए हैं अंधकार में । अज्ञान नाम की योनि में । अज्ञान को मैं एक योनि कह रही हूँ और आत्मज्ञान को दूसरी । मनुष्य जाति का विकास होता रहेगा, शब्दों में नये आशय आते चले जायेंगे, यह मेरी श्रद्धा है । The last word in spirituality is not yet said and the last word in spirituality shall never be said क्योंकि मनुष्य नित्य विकसनशील है । तो इस मंत्र का क्या अर्थ हुआ ? कि जो अंधकार है, आसुरी योनि है, अपने स्वरूप के विषय में अज्ञान है, विषय के चरम सत्य के विषय में अज्ञान नाम की

जो अंधकारमय योनि है उसमें प्रवेश करते हैं जीते जी! मरने के बाद तो जो होना है सो होगा। आत्महनन करते हैं वे लोग। हम आत्महनन न करें हम पहचानें कि —

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।'

यह सारा जगत् ईशावास्य है। यहाँ जो कुछ भी गतिशील है उस गति को धारण करनेवाली एक ही ईश की सत्ता है। मनुष्य के बनाये हुए ईश्वर नहीं। जो सर्वत्र व्याप्त है वह ईश–सत्ता। सभी गतियों को धारण करनेवाली वह सत्ता, उसमें ओतप्रोत है; यह एक सत्य। और हम उसी सत्ता के उन्मेष हैं यह दूसरा सत्य। वह जिसने पहचाना उसको पता चला कि स्वधर्म क्या है और कर्म क्या है? कर्म करने का अधिकार मानव देह का गौरव है, गरिमा है, महिमा है।

कर्म होता है सम्बन्धों में, और सम्बन्ध मनुष्य के चित्त में ही निर्माण हो सकता है। Relationships are the privilege of the human race. स्वसंवेद्यता के बिना संबंध नहीं और संबंधों के बिना जीवन की अभिव्यक्ति नहीं। अकेले में जीवन नहीं है, अस्तित्व है। There is existance but not living in isolation. इसलिये मनुष्य ने समाज बनाया। झुंड में जीवन नहीं है। गिरोहों में और झुंडों में जीवन नहीं है। समाज बनाया, व्यवस्था की। क्यों? क्योंकि विकारों की व्यवस्था करनी पड़ती है तब मनुष्य एक दूसरे के साथ जी सकते हैं। यम बनाये, नियम बनाये, कानून बनाये, एक दूसरे का संरक्षण करने के लिये। स्वभाव के लिये व्यवस्था अपेक्षित नहीं है, विकारों के लिये व्यवस्था अपेक्षित है। समाज बनाया। स्वेच्छा से अपने कुछ अधिकारों का त्याग किया। राज्य नाम की संस्था बनाई। यह सब मनुष्य कर सकता है, संबंध पैदा करना, विकसित करना और संबंधों में से संवाद का संगीत उपजाना। संबंधों में से समन्वय का महाकाव्य निर्माण करना यह मनुष्य जाति की नियति है। The human race is destined to do this, it can not enter into the luxury of total self extinction, racial self extinction through nuclear war before it fulfills its destiny. यह जो नियति है मनुष्य जाति की कि संबंधों में से समन्वय और संवाद का संगीत पैदा करना है। यह किये बिना इस धरती पर से मनुष्यजाति हट नहीं पायेगी, चाहे कितनी मूर्खता करे। यह इस का दायित्व है। यह करके दिखाना है।

समन्वय का, संवाद का, सहयोगी समाज का, सख्यपरायण समाज का निर्माण होने के लिये 'ज्ञानोत्तर संन्यास' अनिवार्य है। 'ज्ञानोत्तर कर्म करने की आवश्यकता नहीं है' ऐसे अपसिद्धांतों से चेतना को मुक्त करना होगा। इतना ही आजके इस मन्त्र के उपलक्ष्य में मुझे कहना था। क्योंकि ये वेदोपनिषद भी बड़े क्रान्तिकारी हैं। और प्रभात में इन मन्त्रों से अपनी चेतना का प्रक्षालन करने के लिये हम बैठे हैं। आत्मानुभवियों के शब्दों का सेतु बनाकर, उस परात्पर परमात्मा के पास, उस सत्ता के पास जो हमारी जन्मदात्री सत्ता है, जो हमारा धाम है, परम धाम है वहां तक पहुंचने का हम मंगल प्रयास करते हैं तो मंत्रों के अर्थ पर हम सब ध्यान दें। उनको समझ कर जीने की कोशिश करें। जिस अध्यात्म का अनुबंध जीने के कर्म के साथ नहीं है वह अध्यात्म आज के समाज में तो अपराध बन जायेगा। जीवन के साथ अनुबंध होना चाहिये। चेतना–परिवर्तन और जीवन–परिवर्तन का कीमिया, जादू अध्यात्म में है यह मेरी श्रद्धा होने के कारण; और कहूँ तो कुछ प्रयत्न होने के कारण, ऐसे ध्यान-शिविर चलाने के लिये समय और शक्ति देने की इच्छा हो आती है।



सप्तम प्रवचन

ता. २१/११/८३ प्रातः ९.३०

मौन की गहराई में से वाणी को वापस लाना कठिन हो जाता है। मनाना होता है उसको कि वापस चलो, शिबिर में बैठे हैं और तुम्हारे बिना संवाद नहीं होगा। समय लग जाता है मनाने में और उसके मानने में। क्योंकि जो आनन्द एक-दूसरे के साथ बैठने में है वह बोलने में नहीं है। लाचारी है इसलिये बोलना पड़ता है। और जब मौन में ही संवाद हो जाता है, होने लगता है, जब उपस्थिति ही वक्तृत्व बन जाती है तब बोलना असङ्गत हो जाता है।

शायद १९६१-६२ का जमाना था। स्विटज़रलैंड में हज़ारों लोग जे. कृष्णमूर्ति के प्रवचन सुनने के लिये संसार भर से आये थे। मैं भी गई हुई थी। तो जब कभी लहर लगती, कृष्णजी फोन करते कि मिलना है चले आओ। और मैं जाती। तब अपनी कुटिया से बाहर, किसी पेड़ के नीचे, कुर्सी पर बैठे होते कृष्णजी। पास में कुर्सी रखी होती और कहते कि बैठो, वह भी इशारे से। बैठ जाती मैं। दस मिनट, पंद्रह मिनट, आधा घण्टा। पहली बार तो समझ में ही नहीं आया। वे शांति से बैठते। देखते रहते पहाड़ी को, खाई को, वृक्षों को हिमाच्छादित, चोटियों को। पहली बार तो आधे घण्टे के बाद मैंने पूछ ही डाला कि आपने मुझे बुलाया था? तो कहा कि हाँ। वह भी इशारे से। फिर कुछ पूछने का रहा नहीं। आध घण्टा हुआ, पौन घण्टा हुआ। फिर कहा कि चलो तुमको पहुँचा देते हैं। पहली बार यह होने के बाद समझ में आया कि यह मौनसान्निध्य और मौन-संवाद के लिये बुलाई जाती हूँ। उसके बाद जब कभी जाते तो बैठे रहते। उसमें जो communion beyond the words, शब्दों से परे उपस्थिति में जो एक-दूसरे के हृदय तक पहुँचने की, शक्ति है उसका साक्षात्कार हुआ।

खैर, अपन आये हैं शिबिर के लिये और कल विदा होना है। आज ध्यान और समाधि की बात पूरी करनी हैं इसलिये चलिये, जहाँ तक शब्द साथ दें, बात कर लें।

पहले दिन यह कहा था कि आज मनुष्य का मन अनेक विकृतियों से पीड़ित है और मनुष्य जितना तन के द्वारा जीता होगा उसकी अपेक्षा मन के द्वारा अधिक जीता है। मन और तन एक-दूसरे में ऐसे घुल-मिल गये हैं

कि मन उदास हो तो उसका परिणाम तन पर होता है। मन में क्रोध हो तो उसका परिणाम तन पर होता है । मन में ईर्ष्या हो, बेचैनी हो, चिन्ता हो, भय हो तो सिकुड़ने लगते हैं शरीर के सभी गात्र और उनमें विकृतियाँ पैदा होती हैं। जिनको डॉक्टर लोग psyoho-somatic sicknesses कहते हैं। तो मन में यदि विकृतियाँ हैं, अशुद्धियाँ हैं और असंतुलन है तो उसका परिणाम शरीर पर होता है, तब शरीर की जितनी काम करने की, जीने की शक्ति हो वह क्षीण होती है। उसका तेज, उसका ओज नष्ट–भ्रष्ट होने लगता है। इसलिये अशुद्धियों को दूर करना, असन्तुलनों को हटाना, विकृतियों का निराकरण अनिवार्य है।

दूसरी बात यह है कि हम और आप सब समाज में रहते हैं। मनुष्य झुण्डों में नहीं रहता। हमें समाज से झुण्डों में वापस जाने का कहीं मोह तो नहीं हो रहा है?—ऐसा आज के वातावरण से लगने लगता है। लेकिन समाज मनुष्य ने बनाया। और समाज याने सहजीवन का संकल्प। सहजीवन का संकल्प न हो तो समाज की सुरक्षा, समाज का सन्तुलन दुनिया की कोई शासनसंस्था, कोई कानून, कोई बंदूक कर नहीं सकेगी। तो समाज याने सहजीवन का संकल्प। और सहजीवन के लिये आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ संयम की शक्ति हो, संयम की क्षमता हो। यदि स्वच्छन्दता में पड़े हैं और मनमानी करना चाहते हैं, स्वच्छन्दता को ही स्वातंत्र्य समझते हैं तो स्वाभाविक है कि समाज टिक नहीं सकता। न उसमें शान्ति रह सकती है न भाईचारा रह सकता है। क्योंकि स्वच्छन्द की आकांक्षायें टकरायेंगी। स्वच्छन्द कभी संतुष्ट नहीं होता है। जितना उसको अवसर मिले उतना वह प्रबल बनता चला जाता है। सिर पर चढ़ बैठता है। फिर वह विवेक की बात नहीं सुनता। वह पड़ोसी का कर्तव्य नहीं जानता। वह जीवन के मूल्यों को नहीं पहचानता। स्वच्छन्दता से जिनकी आँखें लगभग अन्ध हो जाती हैं वे सहजीवन की क्षमता, सहजीवन की शक्ति, सहजीवन के लिये आवश्यक जो दृष्टि होती है वह रख नहीं पाते हैं। तो सहजीवन के संकल्प के लिये व्यक्ति में संयम की शक्ति चाहिये।

दूसरी बाधा है—अपने पड़ोसी को अपना प्रतिस्पर्धी मानना, उसके साथ हर बात में स्पर्धा करने की वृत्ति रखना। मानव-जीवन जैसे एक लड़ाई का क्षेत्र है जहाँ दूसरों को हराने में ही मानो अपनी जीत होनेवाली है। यह स्पर्धा की भावना, यह स्पर्धालु चित्त सहजीवन को होने नहीं देता। स्पर्धा में से ही आक्रमणशीलता आयी। और ये सब हिंसा के प्रकार हैं। इनसे अलग कोई हिंसा नहीं है। स्पर्धा, असूया, ईर्ष्या, मत्सर, क्रोध, द्वेष ये जिन चित्तों में भरे

हैं ऐसे चित्त लेकर, ऐसे मन लेकर कैसे हम समाज के सदस्य बने रहेंगे? हममें से प्रत्येक व्यक्ति आज असामाज़िक तत्त्व (anti-social) बन गया है इसका हमें भान नहीं है।

पहले दिन देखा था कि मन की इन अशुद्धियों को धो डालना प्रार्थना के द्वारा संभव है। प्रार्थना के प्रवचन में इसका उल्लेख आया था। स्वच्छन्द से संयम की ओर जो आरोहण है, जो ऊर्ध्वंगमन है उसके लिये उपाय सुझाया गया था कि चौबीस घण्टे में से जैसे नींद के लिये समय देते हैं, पेट पालने के लिये, नौकरी करने के लिये समय देते हैं, खाने-पीने के लिये समय देते हैं वैसे ही चौबीस घण्टे में से घड़ी-दो घड़ी, प्रहर-दो प्रहर निकालने चाहिये इन मानसिक विकृतियों से मुक्ति पाने के लिये, अशुद्धियों से छुट्टी पाने के लिये। कैसे? क्या करें? तो कहा गया था कि अपने साथ शान्ति से बैठें।

अपने घर से बाहर कहीं भटकने की जरूरत नहीं है किसी की खोज में। यह बहिर्गामिनी यात्रा नहीं है। यह अन्तर की तरफ की अंतर्यात्रा है। पहले तो बैठना सीखें। शांति से, स्थिरता से बैठें। बैठ के क्या करें? करना कुछ नहीं है, जो सामने आये उसको देखना है। मन में पड़ी हुई संचित बातें हैं, विचार हैं, अनुभव हैं, स्मृतियाँ हैं, आकांक्षाएँ हैं, वासनायें हैं। कितना कुछ मन में पड़ा है! अपना, अपने माता-पिता का, अपने ज्ञातिगत संस्कारों का और सारी मनुष्य जाति के संस्कारों का। कितना संचय है भीतर पड़ा हुआ, स्पंदनों के रूप में! तो, वह सारा संचय बाहर निकलेगा, सामने आयेगा। अब, उसके साथ करना कुछ नहीं है। न उसका उपयोग लेना है; न उसको बदलने की, रोकने की, दबाने की, न उसके साथ लड़ने की, न उसको हराने की कोशिश करनी है। देखना भर है। अनेक अशुद्धियाँ केवल देखने के कर्म से हट जाती हैं, धुल जाती हैं, यह simple and elegant observation है।

देखने का अर्थ स्पष्ट हुआ था कि देखना याने प्रतिक्रिया नहीं करना। यह अच्छा है, बुरा है—नहीं कहना। यह त्याज्य है, ग्राह्य है—नहीं कहना। जो जैसा है वैसा उसको देखना। देखने के कर्म में से purification of the perception होगा। शुद्धिकरण शुरू हो गया यहाँ। आज जो हमारा देखने का कर्म है वह दूषित है, प्रदूषित है। उसमें प्रतिक्रियायें मिल जाती हैं। और देखना पूरा हो उससे पहले अतीत के संचित संस्कारों के कारण जो देखा गया उसका निर्णय हम कर देते हैं। Before perception takes place in its totality, we arrive at a judgement without our knowing. उसके बारे में निर्णय हो जाता है। खण्डित हो जाता है देखना।

इसलिये यह देखने का कर्म जो है—simple, innocent observation. यह हमें सीखना चाहिये। बचपन से यह सिखाया नहीं गया है। यह पहला कदम है ध्यानावस्था की तरफ, यह अवलोकन सीखना, देखना सीखना।

विघ्न क्या है इसमें ? बचपन से किया नहीं है, उमर बड़ी हो गयी है तो अधीरता होती है। कब तक देखेंगे ? कैसे देखेंगे ? उसका परिणाम क्या होगा ? कब परिणाम आयेगा ? यह सारा टाईम-टेबल मनुष्य प्राप्त कर लेना चाहता है। वह संभव नहीं है। व्यक्ति-व्यक्ति के संस्कार-संचय अलग होने के कारण, सबके लिये एक टाईम-टेबल नहीं बन सकता। उमर के कारण मनुष्य की अधीरता, अपने साथ असहिष्णुता होती है। जो प्राप्त है उसका स्वीकार नहीं होता है। इसलिये, (अस्वीकार में से) अधीरता आती है। वह हटेगा, स्वीकार होगा अपने आपका, तब देखने में स्थिरता आयेगी, चंचलता नहीं रहेगी। आप तो देखने चले और पल में एक वस्तु को देखा न देखा कि दृष्टि घूम गई और कूद करके दूसरे विषय पर चली गई। यह चञ्चलता छोड़कर जब निश्चयपूर्वक बैठते हैं और देखना सीखते हैं तब शुद्धिकरण और स्थिरता इन दो का अभ्यास होता चलता है।

फिर आगे चले। यदि इस प्रकार देखा जाता है तो अपने बारे में अपनी जो कल्पनायें हैं, धारणायें हैं, जो प्रतिमायें images बनी हुई हैं, समाज की बनाई हुई हैं वे एक के बाद टूटने लगती हैं। जब अपने भीतर के संचित ज्ञान को, अनुभूति का, सद्‌गुणों को, दुर्गुणों को, दुर्बलताओं को, शक्तियों को, एक के बाद एक खुलते हुए देखते हैं तो आघात लगता है। अभी तक तो अपने बारे में गढ़ी हुई और माता, पिता, पति, पत्नी, पुत्र, पड़ोसी सबकी बनाई प्रतिमाओं—को हम अपने सिर पर ढोते आये हैं। और जिसने जैसी प्रतिमा बनाई है वैसी प्रतिमा के रूप में अपना प्रक्षेपण करने के लिये हम कोशिश करते आये हैं। माँ की ऐसी कल्पना है मेरे लिये, तो माँ के सामने वही स्वरूप प्रकट करूँ। बाकी है वह छिपा के रखूँ'। प्रक्षेपण और छिपाने का यह दोहरा खेल शुरू होता है। 'पत्नी ने मेरे बारे में यह धारणा बनाई है उतना ही स्वरूप उसके सामने रखूँ और बाकी जो है वह छिपा के रखूँ'। या मेरी अपने बारे में यह मान्यता है तो उस प्रकार का प्रक्षेपण करने की, कोशिश रहती है। इसमें मनुष्य सफल नहीं हो पाता। इस प्रक्षेपण के खेल में से ही पाखण्ड और दंभ आता है। आज हमारे सम्बन्ध भीरुता पर आधारित हैं, परस्पर के भय पर आधारित हैं या पाखंड और दंभ पर आधारित हैं।

यह हम को प्रिय नहीं है, बदलना चाहते हैं इसे। इसलिये मैंने कहा कि पहला कर्म तो कर्ता और भोक्ता की भूमिका से द्रष्टा की भूमिका में आना है। मान लीजिये कि आ गये और जितने विघ्न हैं उनको लाँघ गये। यह यदि हुआ है तो बैठे हैं, आँखें बंद हैं लेकिन दिखता कुछ भी नहीं है। न दिखता है कुछ; न देखनेवाला है। यह एक शून्यावस्था या मौनावस्था है जो अपने भीतर जागृत होती है।

यह दूसरा कदम ध्यानावस्था की तरफ का बतलाया गया। बड़ी मजे की वात है। यह मान नाम का, शून्य नाम का आयाम है। वहाँ हमें भय लगने लगता है। निराकार का भय लगता है। सगुण–साकार का अभ्यास है इसलिये भय लगना है। स्वाभाविक भी है। जिसका अभ्यास नहीं, अनजाना है और न कोई दिशाबोध होता है, न कोई कर्तव्यबोध होता है, तो, वहां पर भय लगने लगता है। बाद में तो 'मैं देख रहा हूँ' या 'मुझे शून्य दिखता है' यह वात भी चली जाती है। तो वृत्ति शून्याकार हो गई, हम शून्याकार हो गये हैं। हम वहाँ हैं ही नहीं। विस्तार नहीं करूंगी। घटना यह घटित होती है कि जिस अहम् के बिंदु पर खड़े होकर हम विश्व को देखते हैं वह बिंदु वहाँ ठहर नहीं पाता। बिंदु जहाँ सिंधु में गया तो वह जलरूप हो गया है. सिंधु से अलग हुआ तो बिंदु है—और वापस लौट गया है तो वह जलरूप है। उसका बिंदुरूप देखनेवाले को दिखे लेकिन अपनी सत्ता में वह केवल जलरूप है।

मौन में चेतना की यह हालत हो जाती है कि व्यक्तिगत-मानस, व्यक्तिगत चेतना अपने सारे अनुभव, ज्ञान, संस्कारों के परिधि को लेकर सिमट के बिंदु बन गया है। और उसके सिमट जाने के कारण विश्वचेतना उसके भीतर जागृत होती है मौन के आयाम में विलक्षण शक्ति और ऊर्जायें हैं। मैंने कहा था कि पदार्थों के अणु-परमाणु की शक्ति का स्फोट करके मनुष्य अपने आपको बहुत बड़ा पराक्रमी मानता है लेकिन पदार्थ से अधिक शक्ति आकाश के अन्तराल में है, शून्य में है। पदार्थ की शक्ति नापी जा सकती है, तौली जा सकती है, उसका नियमन नियंत्रण किया जा सकता है लेकिन शून्य में भी ऊर्जा है। The socalled emptiness of the space contains innumerable varieties of energies, cosmic energies. हमारे भीतर के शून्य में भी ऊर्जायें पड़ी हैं, वे सारी अपना स्वरूप प्रकट करने लगती हैं। मनुष्य में असाधारणता असामान्यता आ जाती है मौन के कारण। विचारों के तनाव-दबाव सब शांत

हो करके उस संपूर्ण विश्रान्त अवस्था में अपने भीतर की ही प्रज्ञा जागृत होती है, वह प्रज्ञा आँखों में से देखती है। सृष्टि का दर्शन कुछ बदल जाता है। जैसे प्रेम की नज़र से देखने पर दुनिया का एक स्वरूप दिखता है, द्वेष की नज़र से देखने पर दूसरा स्वरूप दिखता है वैसे इस शून्य में समायी हुई ऊर्जा अब आँखों में, इन्द्रियों में उतर कर देखने लगती है, स्पर्श करने लगती है, स्पर्श पाने लगती है तो सारे जीवन का अर्थघटन बदल जाता है। सृष्टि का स्वरूप बदलता है, अर्थघटन बदलता है।

खैर, मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना यहाँ शांत हो तो भी जिसको cosmic consciousness, supramental consciousness, universal consciousness कहोगे वह यहाँ काम करती रहती है, इसलिये यहाँ भी गति है। ज्ञात की गति का संचार नहीं है तो अज्ञात की गति का संचार है, लेकिन है जरूर। यह भी ध्यानावस्था नहीं है। यदि शून्य में से प्रकट होने वाली ऊर्जाओं का लोभ या मोह नहीं होगा, उन ऊर्जाओं के कारण जो शक्तियाँ और सिद्धियाँ मनुष्य को मिलती हैं उनका मोह नहीं होगा तो यह भी, व्यक्तिगत चेतना की तरह शांत होती है और उसके बाद जिसको ध्यान कहते हैं वह 'अवस्था' उदित होती है। ध्यान एक अवस्था है जिसमें हम अपनी सत्ता में पड़े हैं। रसगुल्ला जैसे रस में पड़ा है वैसे वह चेतना 'सत्ता' में पड़ी हुई है—तरंग जैसे जल की शय्या पर सोया हुआ है। वहीं उठता है, वहीं क्रीड़ा करता है और उसी जल की शय्या में फिर वापस सो जाता है। तरंग को हाथ में लेने जाओ तो हाथ में जल आयेगा। दूर से दिखा तरंग, पकड़ने गये, छूने गये तो हाथ में आया जल। वैसे ही यह चेतना, व्यक्ति और विश्व चेतना दोनों सत्ता के सागर पर उठने वाले तरंग रूप बन जाते हैं।

ध्यान एक अवस्था है सत्ता की It is a motionlessness of individual and universal consciousness. यही बात पकड़ने में मुश्किल पड़ती है लोगों को। क्योंकि यहाँ केवल तर्क से पहुँचा नहीं जाता। यह बुद्धि-विरोधी नहीं है लेकिन बुद्धि को लाँघ जाने वाली बात है। **'न एकान्तेन अविषयः'** —ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहा गया कि आत्मा-परमात्मा बुद्धि के लिये एकदम अविषय है ऐसी बात नहीं है, लेकिन वह केवल बुद्धिग्राह्य विषय भी नहीं है। बुद्धि से आगे, जो श्रद्धा नाम की शक्ति है वह जाग्रत् होती है। बुद्धि जब अपना पसीना बहा करके पराकाष्ठा में पहुँचती है, अपनी सारी शक्तियों का पूरा उपयोग कर लेती है और अपनी मर्यादा से आगे, 'अब इससे आगे नहीं बढ़ सकती हूँ' कह कर हार मान लेती है, तब उसकी पराकाष्ठा के पराक्रम के बाद ही श्रद्धा नाम

का एक आयाम खड़ा हो जाता है, एक शक्ति खड़ी हो जाती है। यह ध्यान की अवस्था, गतिमुक्त स्थिति की अवस्था है। नादमुक्त मौन की अवस्था है। संबंधों से अतीत जो अपना एकाकी स्वरूप है, उसकी अवस्था है।

अब तक हम अपने को तो जानते ही नहीं हैं। अपने को जानते हैं हिन्दू मुसलमान के रूप में। जानते हैं ब्राह्मण, कायस्थ, ठाकुर, पटेल के रूप में। जानते हैं डॉक्टर, इन्जीनियर, वकील के रूप में। हमारा अपना जानना कितना है? अपने आप से परिचय है ही कहाँ? फिर जानते हैं—पति है, पुत्र है, माँ है, बेटी है, पत्नी है इस रूप में। और जान लिया तो स्त्री है, पुरुष है। और भी आगे बढ़ें तो मनुष्य है। लेकिन हाड़, माँस, विचार, विकार इनको चीरते हुए भीतर की ओर कभी झाँका नहीं है, अपने स्वरूप की ओर।

ध्यान में वह जो अपना उपाधियों से मुक्त स्वरूप है उसमें रहना है। अरे हम घर नहीं हैं, मकान नहीं हैं। हम मकान में रहते हैं। यह कहने का अर्थ यह तो न हुआ कि मकानों की दीवारें तोड़ दो, छत भी तोड़ दो। नहीं, मकान की जो मर्यादा है उसका बोध हो जाय इतना ही अभिप्रेत होता है। तो वैसे देह में रहते है, हाड़-मांस में रहते हैं, विकार-विचार के बनाये हुए मकान में रहते हैं इसका अर्थ यह तो नहीं कि इनको तोड़-फोड़ दें। नष्ट करने लायक जीवन में कुछ है ही नहीं। त्याग करने लायक यहाँ कुछ है ही नहीं। समझने लायक सब कुछ है। तो ध्यान एक अवस्था है जहाँ गतियों से मुक्त, उपाधियों से – आवरणों से functional roles of the psychophysical state — इनसे अलग जो अपना स्वरूप है उस स्वरूप में समाये हुए रहते हैं। यह एक आयाम है।

यहाँ भय नहीं है क्योंकि यहाँ अस्मद्–युष्मद् प्रत्यय नहीं है। प्रत्यय एक ही है कि जीवन है। जीवन का हुंकार ही सर्वत्र सुनाई देता है–अपने भीतर, दूसरों के भीतर, वनस्पतियों के भीतर, पशु–पक्षियों के भीतर। जीवन का हुंकार पुकार रहा है—'मैं हूँ', 'मैं हूँ', 'मैं हूँ'। वही सुनाई देता है। और उस जीवन में फ़िर सब कुछ है और 'जिसको 'मैं' कहते हैं वह 'मैं' भी है। याने The particular is always seen in the context of the total. विशिष्ट को, व्यक्ति को, पदार्थ को समग्रता से तोड़ करके, विश्लेषण के हथौड़ों और मीमांसा की कैंची से काटकर के नहीं देखा जाता है। पृथक्ताओं को जोड़कर समग्रता का बोध नहीं है। वहाँ पहले समग्रता का भान है और समग्रता में जड़ी हुई विशिष्टतायें देखने में आती हैं। जैसे, अपने शरीर में ये इन्द्रियाँ जड़ी हुई हैं—कान है, नाक है, आँख हैं, हाथ हैं, पाँव हैं। काट करके डाल दोगे अलग

तो टुकड़ा पड़ा है एक माँस का या हड्डी पड़ी हुई है। शरीर से जुड़ा हुआ है तो हाथ है। शरीर से जुड़ा हुआ हो तो पाँव है। और कट गया तो? टुकड़ा है, मांस-पिंड है। समग्रता से कट करके जो विशिष्टता है, वह particular नहीं है, Particular is a particular, only in relation to the total. यह structure पदार्थ–विज्ञान की बात है।

बात निकली इसलिये कह दूं। संसार के बड़े–बड़े physicists की conference अभी-अभी हुई थी अमेरिका में। और हमारे एक मित्र हैं वे गये थे उस परिषद में। पूछा उनसे कि आप सब scientists इकट्ठे हुए थे, क्या कहना है आपका? कहाँ खड़ा है आपका Physics? तो उन्होंने कहा कि Physics is on the the threshold of Metaphysics. It has become necessary to tell the science of Physics around that instead of beginning from particular, it should begin from the total. हम टुकड़ों को लेकर, अणु-परमाणुओं को लेकर, उनके विश्लेषण में गये और जीवन का रहस्य खोज रहे थे। फिर अणु–परमाणुओं को जोड़ने के लिये, वे कैसे जुड़े हुए हैं यह समझ में नहीं आता था, अनुमान करते थे। अब समय आया है कि पदार्थविज्ञान को घूम जाना पड़ेगा और पहले समग्रता की ओर जिस समग्रता में ये पदार्थ जुड़े हुए हैं उसका बोध, उसका भान पाना होगा। वहाँ से शुरू करना होगा। एक अत्यन्त संकटमय स्थिति में से Physics Biology Medicine गुजर रहे हैं।

बडा मजे का समय है, जीने लायक समय है। जहाँ नजर डालो वहाँ चुनौतियाँ हैं। जहाँ नज़र डालो वहाँ आज तक के जितने शास्त्र, विज्ञान वगैरह थे उनकी मान्यतायें, धारणायें ढह रही हैं। और नये जन्म की प्रतीक्षा है वातावरण में। पदार्थ–विज्ञान और आत्मविज्ञान के समन्वय से घटित नये समन्वित जीवन–दर्शन के लिये आज लालायित हैं संसार के चिन्तक लोग। और उस बिन्दु पर आकर, उस मुकाम पर आकर हम खड़े हैं। वैसे ही अध्यात्म में यह एक चेतना का आयाम है, जिसमें आप मन में डेरा डाल के नहीं पड़े हैं।

मन कौन सा? जो अतीत की निष्पत्ति है। जिस मन में संचित हैं संस्कार आदिम मानव से लेकर आज तक के। गति है सहस्रों वर्षों की उसमें समाई हुई। और प्रत्येक चीज की व्याख्या, गुण, दोष, मूल्यांकन पड़े हुए हैं। यह अतीत हावी हो जाता है वर्तमान पर, जब मन चलता है तब। और वर्तमान का शिल्पकार बनना चाहता है यह अतीत! इससे हट करके अध्यात्म कहता है अतीत को हावी नहीं होने देंगे। जीवन का वर्तमान होगा और हमारा वर्तमान होगा। इनके सयोग में से जो निकलेगा वह दर्शन है।

मित्रो ! ध्यान एक आंतरिक क्रान्ति का मार्ग है। यहाँ मन, बुद्धि को लाँघ कर जाना है। समय को लाँघ कर जाना है, अपने ही भीतर। उस सत्ता में भय नहीं है क्योंकि अपनेआपको जीवन की समग्रता से पृथक् करके देखा नहीं जाता। दूसरे को भी पृथक करके देखा नहीं जाता। परम्परा के शब्द कहूँ तो **'सर्वं खलु इदं ब्रह्म।' 'अहं ब्रह्मास्मि।' 'तत्त्वमसि।'** सभी कुछ ब्रह्ममय है। सभी कुछ चैतन्यमय। लेकिन यह कहने से जरा लगता है कि कोई रहस्य है। इसलिये सीधी-सादी भाषा में कहती हूं कि मौन के बाद जो ध्यान की अवस्था है, जहाँ वैश्विक सत्ता में पड़े रहते हैं वहाँ पृथक्ता का बोध न होने के कारण भय नहीं है।

'द्वितीयात् वै भयं भवति' । यह मन के स्तर पर ही होता है। और इसी परस्पर भय के आधार पर, अविश्वास के आधार पर समाज रचनायें और अर्थतंत्र की रचनायें होती हैं। जिसमें से स्पर्धा का और आक्रमण का जन्म होना अनिवार्य है। यहाँ आधार बदल गया, The dynamics of relationship is changed. क्योंकि वहाँ भय नहीं है, अभय है। समग्र का बोध है। और समग्र में आप और हम सब हैं। और सहजीवन का संकल्प है, भय कैसे ? तो फिर प्रेरणा होती है सख्य की और सहयोग की। अध्यात्म के अधिष्ठान के बिना सख्य की प्रेरणा, सहयोग की प्रेरणा, सहजीवन का संकल्प, भाईचारा--समता-स्वाधीनता के सकल्प संभवित नहीं हैं ऐसा लगता है। कोशिश कर देखी मनुष्य–जाति ने, बन नहीं रहा है।

ध्यानावस्था में मनुष्य पड़ा है अपनी सत्ता की गुफा में। **'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'**। वह गुहा और गुफा कोई पहाड़ों में पड़ी हुई नहीं है। अरे, अपने भीतर की है ! उसमें स्थिति है। relaxation है, विश्रान्ति है। और मानवीय व्यवहार उस विश्रान्त–दशा में से ही चलते हैं।

वहाँ भय नहीं, अविश्वास नहीं। ऐसे एक अभय मानव का सर्जन यदि ध्यान में से होता है तो इससे बड़ी राष्ट्रसेवा और मानव सेवा क्या हो सकती है? विकृतियों से भरे हुए, अशुद्धियों से सड़े हुए मनको लेकर के काम करना इसके बदले अशुद्धियों से मुक्त, विकृतियों से मुक्त मानव का निरामय मन और बुद्धि ले करके समाज में जीना बहुत बड़ी सेवा है।

यह अवस्था फिर अवस्था नहीं रहती। अवस्था किसको कहते हैं ? आयी और गयी। थोड़े समय ठहरी और फिर मन की भूमिका पर चले गये, आदत है इसलिये। फिर भान आया कि नहीं, हम तो पुरानी भूमिका में चले गये हैं।

भान आया, वापस चले आये। यह आवागमन वना रहता है तव तक उसको अवस्था कहते हैं।

समाधि कव कहेंगे? जव वह स्वभाव वन जायेगा। Mental and Supramental, मन और मन से अतीत ऐसे दो आयाम जव अलग रहेंगे, उन में आवागमन नहीं होगा, प्रतिष्ठित हो गये हैं—ध्यान में **'ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा, पश्यन्ति यं योगिनो'**। उस में प्रतिष्ठित हो गये तो कहलायेगी समाधि। **'यद् गत्वा न निवतन्ते'** जहाँ से फिर लौटना नहीं है।

'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥'

ऐसी ब्राह्मी दशा किस लिये? 'मैं ने समाधि प्राप्त की', 'मुझे समाधि प्राप्त हुई'—यह वतलाने के लिये? नहीं। याद रखना—

'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्?॥'

यह कहा गया है। समाधि में नवमानव का जन्म होने पर व्यवहार की गुणात्मकता वदलेगी। Texture वदलेगा व्यवहार का, सम्वन्धों का स्वरूप वदल जायेगा ध्यानावस्था जव स्थिर हो गयी— तव, सामने कोई व्यक्ति आयी, वोलना है तो वुद्धि का उपयोग किया और वोले। काम करना है तो ज्ञान का, अनुभव का उपयोग किया। काम किया, वापस चले गये, अपनी ध्यानावस्था में पड़े हैं। जैसे आप (श्वास लेते हैं, उच्छ्वास निकालते हैं) वैसे फिर व्यवहार में एकान्त और लोकान्त हो जाता है, बोलना और मौन हो जाता है। प्रयोजन हो तो बोले, नहीं तो मौन भला। प्रयोजन है तो सम्वन्ध है, नहीं तो एकान्त भला। फिर कर्म करने में थकान नहीं आती।

तव—**'यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः।'** यह संभवित वनाना है। लोग ऊवते नहीं हैं जिससे और जो लोगों से ऊवता नहीं है ऐसा कौन-सा चित्त है? यह जो ध्यानावस्थित है वह। क्योंकि फिर उसकी वाणी में कटुता नहीं होगी, चित्त मे द्वेष नहीं होगा। **'अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्'**। वह सत्य वोलेगा लेकिन प्रिय हो इस रुचिकर ढंग से बोलेगा उद्वेग पैदा करनेवाली पद्धति से नहीं वोलेगा। सत्य से किसी का दिल नहीं टूटता है। सत्य बोलने का जो ढंग हैं हमारा वह उद्वेग पैदा करता है, वह दिल तोड़ता है। इसलिए सत्य अप्रिय होता है।

समाधि शब्द को थोड़ा ध्यानपूर्वक देखें। हठयोग में समाधि शब्द का प्रयोग आयेगा। तन्त्रयोग में मन्त्रयोग में आयेगा। भक्तियोग में, ज्ञानयोग में

और राजयोग में भी समाधि शब्द आयेगा। भारतीय जनमानस में अनेक शास्त्रों के संस्कार पड़े हैं। साधना के पंथ अनेक हैं। यह हमारी संस्कृति का ऐश्वर्य है। इन शास्त्रों के संस्कार होने के कारण 'समाधि' शब्द का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग लगायेगा। प्राणायाम का अभ्यास किया और कुम्भक की शक्ति बढायी, अन्दर श्वास धारण करने की शक्ति बढ़ायी। पैंतालीस मिनट तक कुम्भक किया। ज़मीन में गड्ढा खोदकर उस में बैठ गये और कुम्भक की शक्ति से दो दिन, तीन दिन ज़मीन में भूगर्भ में काट दिये। 'वह समाधि में गये थे और समाधि से बाहर आये थे'। उस में प्रवेश भी है, उस से उत्थान भी है। वह जो समाधि की अवस्था विशिष्ट क्रियाओं के, प्रक्रियाओं के कारण कुछ समय के लिये निर्माण कर लेते हैं कृत्रिमता से, उस समाधि से मेरा अभिप्राय नहीं है।

समाधि से मेरा अभिप्राय ब्राह्मी दशा है। जिस से लौटना नहीं है। वह चेतना की अभिवृद्धि या विकास growth है, growth into another dimension. जैसे बच्चे थे और जवान बन गये तो जवानी से फिर बचपन में लौटते नहीं है। एक बार समाधिस्थ हो गयी है चेतना वह समाधिभ्रष्ट नहीं होती है। लेकिन अनेक शास्त्रों में अनेक प्रकार के मन्त्र हैं और मन्त्र से समाधि लगा दी, नाद की ऊर्जा का उपयोग कर के। और कहा कि उन की समाधि चार घण्टे रही, आठ घण्टे रही, अड़तालीस घण्टे रही। Artificially stimulated and manipulated state of the being is one thing and growth of the total being is quite another. वह बिल्कुल अलग चीज है। और हम मानव-जीवन के परिवर्तन की बात कर रहे हैं। जो समाज परिवर्तन का एक मार्ग हो सकता है।

मन्त्रयोग, तन्त्रयोग आदि में अलग-अलग प्रक्रियायें हैं; समाधि लगा देने की। manipulation of The psycho-physical structure है। ऐसे समाधि में दो-दो, चार-चार दिन रहनेवाले, भावसमाधि में जानेवाले और तन्त्र की प्रक्रियाओं से समाधि में जानेवालों को बचपन से देखा है; [और कुछ किया ही नहीं ज़िन्दगी में, धंधा यही किया पाँच साल की उमर से। आश्रमों में जाओ–यह निर्वाणपंथी है, यह वैरागीपंथी है, यह राधास्वामीपंथी है, यह वेदांती है। पता नहीं कितने आश्रम मैंने पाँच वर्ष की आयु से बीस वर्ष की आयु तक देख डाले।] कितने सम्प्रदाय, कितने पंथ हैं। मठों को देखो, महंतो को देखो, तथाकथित संतों को देखो, योगियों को देखो। सिद्धियाँ हैं उन के पास। समाधि में जाना, आना, समाधि में बैठकर दूसरों के विचार देख लेना और बतलाना और, कुछ क्रियाओं से संचालन करते हुए, दूसरे व्यक्तियों में

कृत्रिम रीति से शक्तियों को जगा देना—यह सब देखा। लेकिन उन व्यक्तियों का जब जीवन देखा है तो न उन की मनोदशा में कोई फर्क, न उन के व्यवहारों में फरक। वही—गालीगलौज, ईर्ष्या करना, अहङ्कार करना, महत्त्वाकांक्षा होना, 'तेरे चेले', मेरे चेले', परिग्रह, सम्पत्ति बढ़ाना। यह कौन-सा परिवर्तन हुआ? एक-दूसरे के लड़ने के लिये क्या अन्य कारण और बहाने कम हैं तो धर्म और अध्यात्म के नाम से भी लड़ें! लेकिन वही धंधा चलता है। चेतना-परिवर्तन नहीं होता है।

क्या करना ऐसे अध्यात्म को लेकर? यदि मनुष्य की गुणात्मकता नहीं बदलती, चेतना के आयाम नहीं बदलते, मानवीय सम्बन्ध के आधार नहीं बदलते तो यह तो एक luxury हो गई। खाने-पीने को है, चिन्ता नहीं है तो चलो अध्यात्म-साधना करें। Intellectual entertainment, emotional recreation बौद्धिक या भावनात्मक मनोरंजन का प्रकार यह नहीं है। और इस के लिये भारतवर्ष के पास तो समय भी नहीं है।

समाधि तो एक आयाम है, जहाँ मानवीय संभावनायें संपूर्ण रीति से खिल उठी हैं। मैं ने कहा कि मनुष्य दिव्य संभावनाओं का पुञ्ज है। सारी की सारी मानवीय शक्तियों का परिचय हमें नहीं है। वे जो संभानायें हैं। वे खिल उठती हैं—फूल की पँखुड़ी-पँखुड़ी खिल उठे ऐसी। यह अध्यात्म का प्रयोजन है। इसलिए समाधि कृत्रिमता से पैदा की हुई क्षणिक या अल्पजीवी किसी अवस्था का नाम नहीं है। वह तो आयाम का नाम है, उसी में व्यक्ति जियेगा। उस की आँख खुली और उस को जीवन की समग्रता दिखी इसलिए, एक-एक शब्द एक-एक कर्म, उस समग्रता के अनुसन्धान में बोला जाता है, किया जाता है।

हमारा व्यवहार अहङ्कार के खूँटे से बँधा हुआ है। ममता का फन्दा हमारे गले में है इसलिये एक दूसरे के साथ जीते हुए हम एक दूसरे से बचना चाहते हैं। बचने की प्रेरणा से जीते रहते हैं। तब समाधि-आयाम में होगा सहजीवन! प्रेम, मैत्री शब्द फिर सार्थक बनेंगे। समाधि नाम का यह जो आयाम है वह नवजीवन का प्रारम्भ है। किसी क्रिया - प्रक्रिया की समाप्ति नहीं। वह कोई ऐसी मंजिल नहीं जहाँ पहुँच कर जीना स्थगित हो जाय। It is not a destination to be reached and relaxed. नवजीवन का प्रभात है समाधि की उपलब्धि, ब्राह्मी दशा की उपलब्धि।

और एक मुद्दा लेने की इच्छा है कि 'जो जिज्ञासु साधक बनना चाहता है, ध्यानमार्ग की तरफ बढ़ना चाहता है वह गुरु करे कि न करे और करे तो किस प्रकार का करे?'—यह एक सवाल अनेकों के चित्त में उठता होगा। इस

पर मुझे कहना है कि एक तो गुरु किया नहीं जाता, शिष्य हुआ जाता है। अपने आप को शिष्यभाव में रखना या न रखना अपने स्वाधीन है।

शिष्य क्या है भाई? **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।'** सीखने की इच्छा, जानने की इच्छा है; कमाने की नहीं कि 'मुझे यह सिद्धि मिल जाय, मुझे वह अनुभूति मिले, वे अतीन्द्रिय शक्तियाँ मिलें, मेरी कुण्डलिनी जाग उठे।' अरे! पैसा नहीं कमाना, सत्ता-सम्पत्ति नहीं कमानी तो यह कमाना है? कमाने की इच्छा, कमानेवाला बिन्दु अहङ्कार का और कमाने का विषय तीनों कायम हैं; क्षेत्र बदल गये। उससे क्या हुआ? तो शिष्यभाव याने सीखने की इच्छा है, विनम्रता है और तत्परता है। जिस के पास सीखने की इच्छा हो वह प्रमादी तो हो नहीं सकता। प्रमाद याने slow suicide है, gradual suicide (क्रमिक —धीमेधीमे आत्मघात)। जिस में सीखने की इच्छा है उसकी इन्द्रियाँ कैसी होंगी? तत्पर होंगी सीखने को। शरीर, मन, बुद्धि, प्राण तत्पर होंगे। उन्मुख होंगे, तत्पर होंगे, विनम्र होंगे। **'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'**। प्रणिपात करने की, सीखने की तत्परता है। ऐसी यदि हम में पैदा हो जाय, इस जीवन में, कि मुझे सीखना है, मुझे जानना है। 'मैं कौन हूँ?' 'क्या मेरा स्वरूप हैं?' 'यह संसार क्या है?' 'इस से मेरा संबंध क्या है?' 'उस संबंध को मैं किस प्रकार जीऊँ?' – प्रश्न उठे चित्त में और जानने की इच्छा हो। **'अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा, अथाऽतो आत्मजिज्ञासा–धर्मजिज्ञासा।'** यह किसी भाग्यशाली के हृदय में जाग उठती है तो उस को केवल खाना, पीना, सोना, कमाना और एक दिन मरना इस में रस नहीं आता। उस को लगता है कि ज्ञान का प्रकाश चाहिये। प्रेम की ऊष्मा चाहिये। आनंद का उल्लास चाहिये। – इच्छा होती है।

यह इच्छा जागृत हो और सीखने के लिये तत्पर हो जाय व्यक्ति, तो जाननेवाले व्यक्ति से जीवन उसका मिलाप कर देता है। गुरु खोजने नहीं होते हैं। गुरुपद में स्थिति जो व्यक्ति है, उस से मिला देना वैश्विक जीवन का काम है—यदि हम में जिज्ञासा है और शिष्यभाव है। वैश्विक जीवन कोई अंध-शक्तियों का अस्तव्यस्त जोड़ नहीं है। इस में प्रज्ञा (intelligence) है, इस में व्यवस्था (inner order) है। ऋतुओं के चक्र देखो, सागर के जल का ऊपर उठना और बादल बनना देखो, बादलों का जल बन के बरसना देखो, उस बरसने से संतृप्त धरती का व्यवहार देखो! कितनी इस में मेधा है, कितनी प्रज्ञा है, कितना अनुशासन है! मानो यह सारा संसार प्रभु का कोई एक छंद हो, कोई गान हो उस का! तो ऐसा यह जो विश्वाधार, विश्वात्मा है, जो

विश्वाकार बना हुआ भी है। यह जगदाधार जगत्-रूप से बना हुआ है। -यह मिलाप करा देता है।

जिज्ञासा परिपक्व हो जाय, विरह उदित हो जाय ज्ञान का कि मुझे जानना है। कब जानूंगा, कब सीखूंगा, कब देखूंगा, कब समझूंगा—यह विरह का वेदना तपा दे चेतना को। खूब सुन्दर रीति से तप जाय चेतना और विरह की वेदना कोई अग्निशिखा बनकर के आप के सारे जीवन में चौबीस घण्टे आप को सताने लगे-ऐसी विरह की वेदना किसी भाग्यशाली को बख्शीश में मिलती है; जो सवेदनशील है, जा केवल देहपरायण, उपभोगपरायण नहीं है। यह विरह की वेदना हो; सीखने की उत्कंठा, आतुरता, आर्तता हो हो गुरुमिलन में कितनी देर? गुरु यानी कौन? जो सम्पूर्ण निरहंकार है। अहङ्कार के खूंटे से बंधी हुई हमारी चेतना और अहङ्कार के खूंटे से छूटी हुई उस की चेतना-इतना फरक है। ममता का फंदा गले में नहीं है और अहंता के खूंटे बंधी हुई नहीं है। दो बातें हैं। इसलिये वहाँ सत्य का प्रकाश है, प्रेम का सौरभ है, आनंद का उल्लास है। उस व्यक्ति को यह भान नहीं है कि मैं दे रहा हूँ। वह संकल्प नहीं करेगा कि मुझे यह करना है, देना है, 'आओ तुम सब मेरे शिष्य हो, मैं गुरु हूँ"। अरे, प्रेम बाँधता नहीं है तो गुरु बाँधेगा? मनुष्यों के बीच, पति-पत्नी के बीच, दोस्तों के बीच, मोह बाँधता है; प्रेम नहीं बाँधता। प्रम तो अपने आप को लुटाता है और लुटाने में कृतार्थ हो जाता है। इसीलिये न गोपियों ने उद्धव से कहा था!-

"ये भक्ति की बातें हैं ऊधो, बंदगी तेरे वश की नहीं है।
यहाँ सर देकर होते हैं सौदे, आशिकी इतनी सस्ती नहीं है।
जिन आँखों में श्याम समाये, वे रहते हैं दुनिया से न्यारे।
इक बार जो पी लेते हैं, उम्रभर फिर उतरती नहीं है।
ये भक्ति की बातें हैं ऊधो! बंदगी तेरे वश की नहीं है।"
वहाँ ज्ञानी और विद्वान् कम पहुँच पाते हैं।

प्रेम अपने आप को लुटाने में और फिदा होकर फनाह होने में कृतार्थ होता है। तो जिस व्यक्ति की चेतना गुरुपद में पहुंची है वह नहीं कहेगा कि 'मेरे लिये यह चाहिये, मेरे चेले हैं, मेरा सम्प्रदाय है मैं सिखाता हूँ, मैं मुक्त करता हूँ, मेरी शरण में आ जा। माँ के, बाप के, पति के, पत्नी के व्यावहारिक सम्बन्ध छोड़ देने हैं और नया सम्बन्ध बाँधना है? अध्यात्म के क्षेत्र में गुरु और शिष्य के सम्बन्ध के कारण जितना शोषण हुआ है, जितने अन्याय हुए हैं; जितनी मानसिक पंगुता निर्माण हुई है इस देश में-इन सब से बाहर हमें निकलना

है। गुरु का और शिष्य का सम्बन्ध याने? गुरु पद में स्थित और शिष्य भाव में स्थित व्यक्तिओं का मिलन होना। और मिलन कितना? पलभर का होता है। एक जली हुई ज्योति है और दूसरा तैयार दीप है, बाट जली हुई नहीं है, आप उस के पास ले गये और ज्योति से ज्योति मिल गयी, प्रज्ज्वलित हुई। वैसे जिज्ञासा और अनुभूति का मिलन हुआ, जिज्ञासा अनुभूति में परिणत हुई। यह होता है गुरु–शिष्य का मिलन मित्रो! यह होता है।

उस के बाद का सम्बन्ध प्रेम का रहेगा, आदर का रहेगा, सेवा का रहेगा, लेकिन बन्धन का नहीं हो सकता है। 'ये मेरे हैं, ये तेरे हैं' देखो न आप। गुरुभाईयों की, गुरुबहनों की ईर्ष्या देखो, झगड़े देखो वहाँ! पैसे को लेकर, सम्पत्ति को लेकर। किस की तरफ गुरु ने देख कर हँस दिया और किस से बात की और किस के साथ घूमे–इस को लेकर के एक बड़ा छिछला–विकृत पसारा खड़ा होता है। अच्छी तरह समझ लें। भ्रम में न रहें।

गुरुपद भी है, शिष्यभाव भी है। दोनों की अनिवार्यता है, दोनों में पवित्रता है। मिलन होता भी है लेकिन मिलन याने वैसा सम्बन्ध नहीं है, जिस प्रकार के सम्बन्ध की हम कल्पना करते हैं। वह ऐसा सम्बन्ध है कि परस्पर को मुक्त कर देता है—पलभर में। सन्त ज्ञानेश्वर कहते हैं कि 'रीता घड़ा खाली घड़ा लेकर कोई सरिता में पहुँचा और डुबो दिया तो वह जल से छलकता हुआ घड़ा निकला। खाली था, नदी में डूबा, छलकता हुआ ऊपर उठा। मैं मेरे गुरु के पास प्रणाम करने गया, मैं मन को लेकर गया था लेकिन जैसे नमन किया वैसे मैं अमन होकर निकल आया।' यह शब्द का शृङ्गार नहीं है, यह वास्तविकता का निर्देश है। ये सम्बन्ध भी होते हैं। उन गुरू को ढूँढना नहीं पड़ता। अपने भीतर जिज्ञासा को हम परिपक्व करें, अपने भीतर शिष्यभाव की विनम्रता लायें। सीखने के लिये बहुत–बहुत निरहंकार बनना पड़ता है, बड़ा विनम्र बनना पड़ता है। विनम्र बने बिना चीज नहीं सीखी जाती। ऐसी यदि विनम्रता हो, और आतुरता हो जीवन परिवर्तन की, चेतना परिवर्तन की तो जब आवश्यक होगा और होता है तब अधिकारी व्यक्तियों से मिलना अपने आप घटित होता है। इसलिये उस की चिंता हम न करें। अपना दायित्व हम पूरा करें।

पूर्णाहुति प्रवचन

दि. २२-११-८३ प्रातः ९.३०

पाँच दिनों तक हम सब लोग यहाँ सत्संग शिविर में रहे यह मेरी दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण घटना है। भारतीय संस्कृति में सत्संग की एक महान युक्ति है जो जनजागृति तौर जनशिक्षण का प्रभावशाली माध्यम रहा है। जो कुछ आध्यात्मिक मूल्य, प्रभुश्रद्धा और आत्मश्रद्धा भारत में आज भी जीवित है वह उतनी ग्रन्थों के भरोसे जीवित नहीं रही है जितनी कि सत्संग की युक्ति के द्वारा। सत्संग है, संकीर्तन है, यात्रायें हैं, मेले होते हैं। उसीका एक प्रकार है जो हम लोगों ने शिविर बना लिये, कुछ एक व्यवस्था उसमें पैदा कर ली। लेकिन जो मनुष्य चौबीसों घण्टे अपनी देहभावना में, देहाध्यास में पड़ा रहता है, 'मेरा और तेरा' की अहन्ता और ममता के घेरे में पड़ा रहता है उस मनुष्य को — संसार को पैदा करने वाली जो सत्ता है, जिसका वह एक अंश है, उन्मेष है जिसके साथ वह जुड़ा हुआ है—उस सत्ता की याद दिला देना, उस सत्ता के संग के अवसर पैदा कर देना यह सत्संग का अर्थ है। सत्संग किसी एक व्यक्ति का संग नहीं है। आप सबकी तरफ से मैं यहाँ बैठती हूँ, बोलती हूँ लेकिन एक व्यक्ति के संग के लिये सत्सङ्ग नहीं होता। व्यक्तियों के द्वारा वह जो सत् प्रकट होता है, सत्-चित्-आनन्द प्रकट होता है उसे एक-दूसरे की मदद करते हुए हमें करना है। जहाँ तक आत्मसत्ता का या परमात्मा का सम्बन्ध है वह मुझमें कम है और आप में अधिक है ऐसा नहीं है। चींटी से लेकर हाथी तक, अणु-परमाणु से लेकर हिमालय तक। उसकी गुणवत्ता एक है, उसकी सत्ता एक है, उसकी शक्ति एक है।

सत्सङ्ग शिविर होते हैं सत्य का संग करने के लिये। प्रवचन तो बहुत गौण माध्यम है। लेकिन साथ जीना, एक-दूसरे की उपस्थिति में बैठना, भजन गाना, मौन में बैठना, रास-गरबी-गरबा आदि जो कार्यक्रम चलते हैं वे करना—यह सब सत्सङ्ग है।

दुर्भाग्य इतना ही है कि सत्संग परम्परा में से हम लोगों ने साम्प्रदायिकता पैदा कर ली। हमने व्यक्तिपरायण और व्यक्तिनिष्ठ और व्यक्ति-आधारित सम्प्रदाय खड़े कर दिये। और उनमें से तर-तम भाव आया, स्पर्धा आयी। तो, 'मेरा सत्सङ्ग' और 'आप का सत्संग' अलग हो गया। उसमें तुलनायें होने लगीं। झगड़े होने लगे। किनके सत्सङ्ग बड़े, किनके छोटे; किनके आश्रम बड़े, किनके छोटे, किनके पास अधिक सम्पत्ति है, किनके पास कम परिग्रह है—ये सारी

विकृतियाँ उसमें घुस गईं। तो शतकोटि वर्षों की धूल चढ़ गयी है सत्संग का परम्परा पर, उस धूल को हटा देना है। सम्प्रदाय-मुक्त, व्यक्ति-प्रामाण्य से मुक्त, ग्रंथ-प्रामाण्यरहित ये आत्म-जिज्ञासुओं का और जीवन-साधकों का मेला होता है. एक साथ उनका रहना होता है, वह सत्संग का तीर्थक्षेत्र है।

ग्रन्थाध्ययन, शास्त्राध्ययन, परम्पराओं का अध्ययन इसकी कोई उपयुक्तता नहीं है ऐसा अभिप्राय नहीं है। किसी को अध्ययन करना हो हठयोग का, उसका सैद्धान्तिक पक्ष और व्यावहारिक पक्ष समझना हो, तो जाना पड़ेगा उसको जहाँ कोई हठयोगी रहते हों उनके पास। किसी को मंत्रयोग का करना है तो किसी मन्त्रयोगी के पास जाना पड़ेगा। मान्त्रिक के पास नहीं! मन्त्रयोगी अलग है, मान्त्रिक अलग है। तन्त्रयोगी अलग है और तांत्रिक अलग है। वे तान्त्रिक-मान्त्रिक तो बाजार के साथ जुड़ गये हैं। उन्होंने तन्त्रयोग, मन्त्रयोग को commercial proposition बना दिया, वह बात अलग है। लेकिन अध्यात्म तो जीवन का एक विज्ञान है। और उस जीवन विज्ञान में महत्त्व है जो जीवन की सत्ता है उसको पहचानने का। जीवन का जो चरम सत्य है वह आप में और मुझमें ओतप्रोत है। घास के तिनके से लेकर विशाल वटवृक्ष तक ओतप्रोत है। घड़े में मिट्टी है वैसे इस विश्व के तानेबाने में वही है, वही है, वही है। यह जो अध्यात्म का एक आत्मिक दर्शन है उसमें सत्सङ्ग की गुंजाइश है।

संसार में रहते हुए, बारह महिने में एकाध बार मनुष्य निकल आये—ज्ञातिमुक्त, कुलमुक्त, सम्प्रदायमुक्त, सङ्गठनमुक्त ऐसे वातावरण में निकल आये। और इसी इरादे से आये हुए लोगों के साथ रहें। यह मानसिक स्वस्थता की दृष्टि से आवश्यक लगता है।

दूसरी बात—यहाँ जो सत्संग में आये, देखा और सीखा उसका कोई भार अपने चित्त पर नहीं रखियेगा। जो सहज सङ्क्रान्त हो जाता है वही जीवन में स्थायी हो पाता है। उसकी चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। सहज संक्रान्त होनेवाले अनेक शुभ तथ्य हैं और सबमें हैं। हम लोग यहाँ सवासौ-डेढ़सौ लोग साथ रहे। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होगा जो सर्वथा अयोग्य हो, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है कि जिसमें कोई दोष या त्रुटि न हो। तो लेन-देन के लायक सबके पास है। और उपस्थिति में, सहजीवन में वह संक्रान्त होता है। इतना ही है कि शुभ ग्रहण करने की इच्छा हो, तैयारी हो, अशुभ की तरफ मन न दौड़े। यह नहीं कि 'मैं मानती थी, मैं मानता था कि मुझमें इतने दुर्गुण हैं पर दूसरों में भी तो इतने ही है!' दोषदर्शन का प्रेम न हो, न दूसरों के न अपने। गुणग्राहिता हो, शुभद्रव्य-शुभतत्त्व का ग्रहण करने की तत्परता हो तो सत्सग में प्रवचनों के

अलावा, चर्चाओं के अलावा भी बहुत सारी घटनायें घटित हो जाती हैं। भार न रखें अपने मन पर।

तीसरी बात कहूँ कि जो एक मार्ग मैं ने देखा, जिसको मैं 'ध्यानमार्ग' कहती हूँ, उसके लिये मौन के माध्यम से होकर गुजरना पड़ता है और ध्यान की अवस्था तक पहुँचना होता है। जो अवस्था स्थिर होकर समाधि का आयाम बनती है। व्यवहार में जिसको व्यवहृत करना सम्भव है। मनुष्य का जो पुनर्जन्म है वह समाधि के बाद होता है यह बात कहती थी। और वही, आप आये तो आप के पास भी बात की। इसका यह अर्थ नहीं समझियेगा कि यदि कोई वर्षों से जप करते आये हैं किसी मंत्र का, पूजा-अर्चा करते आये हैं, भजन करते आये हैं तो उसका कोई मैं ने खण्डन किया या निषेध किया। अध्यात्म में खण्डन और निषेध के लिये अवकाश नहीं है। प्रभुसत्ता के साथ प्रत्येक व्यक्ति के सम्पर्कबिन्दु अलग-अलग हो सकते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि सबके सम्पर्कबिन्दु एक ही हों, सभी लोग ज्ञानमार्ग से चलें, सभी ध्यानमार्ग से ही चले, सभी ज्ञानमार्ग से ही चलें। ऐसा कोई एक कानून नहीं बनाया जा सकता, थोपा नहीं जा सकता है सब पर। जितने व्यक्ति हैं उतनी विविधतायें हैं, वैचित्र्य हैं। अपना सम्पर्कबिन्दु हम पहचानें। अपनी अभिरुचि, अपने संस्कार। इनमें से अपना सम्पर्कबिन्दु क्या है यह पहचानें। और उस बिन्दु पर से चलें। भजन गाने में आनन्द आता है तो कौन कहेगा कि भजन मत गाओ। जरूर भजन गायें। उसमें जो भाव उठते हैं उन भावों से चित्त का प्रक्षालन होगा, धोया जायेगा चित्त। लेकिन भजन गाने से आनेवाली जो खुमारी है, मस्ती है, नाचने की-कूदने की इच्छा हो जाये—ऐसी मादकता है उसको अध्यात्म का अंतिम चरण न मानें। भावावेश होगा, भावसमाधि होगी तो उसमें से जीवन परिवर्तन हो गया है यह न मानें। जीवन-परिवर्तन—total transformation of the total being—यह अलग चीज है। दिव्य संभावनाओं का पुञ्ज है मनुष्य उसमें कितने ही आयाम छिपे हुए हैं। The last word in spirituality is not yet said and can never be said. उत्तरोत्तर विकास होनेवाला है। The last word in revolution is not yet said, shall never be said. अध्यात्म में या विकास में अन्तिम शब्द किसी का भी नहीं है। और इसी में मानवीय समाज का गौरव है, गरिमा है, महिमा है।

तो, भजन का आनन्द लूटें किन्तु उसमें से आनेवाली खुमारी में से, मस्ती में से यदि कोई असंतुलन पैदा होता हो तो कहूँगी कि सावधान! क्यों

कि जीवन का प्रसाद संतुलन में है, असंतुलन में नहीं है। असंतुलन अशुद्धि है और संतुलन में, चित्त के समत्व में और इन्द्रियों के संतुलित व्यवहार में जीवन का सार है, ऐश्वर्य है, आत्मसत्ता का, परमात्मा का। सच्चिदानन्द शब्दों से जिसकी लक्षणा होती है उस प्रभुसत्ता का प्रगट लक्षण प्रसाद है और प्रसाद कभी असंतुलन में नहीं हो सकता। मान लीजिये कि कोई हठयोग के रास्ते से जा रहे हैं, तो जाओ भाई। हठयोग का रास्ता शुद्धिकरण की प्रक्रिया है। शरीर की शुद्धि करेंगे, शरीर के भी अंग–प्रत्यंग की शुद्धि करेंगे। प्राण की शुद्धि करेंगे, नाडीतंत्र की शुद्धि करेंगे। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा ये सब करेंगे। Process of purification of the physical verbal, mental level करें। और जा कर पहुँचेंगे वे भी धारणा से ध्यान तक या समाधि तक। लेकिन जिस समाधि में आना-जाना होता है, जहाँ प्रवेश होता है और जिसमें से बाहर निकला जा सकता है वह समाधि जीवन का आमूलाग्र परिवर्तन नहीं है, इतना ध्यान रखें। और इच्छा हो तो फिर उसमें भी आगे बढ़ें।

मेरे प्रभु के पास तो जाने के अनन्त रास्ते हैं। क्योंकि वे सर्वव्यापी हैं। सर्वरूप में, सर्वदा, सर्वत्र विराजते हैं। वे एक भी हैं, अनेक भी हैं, और एक अनेक की संज्ञा नहीं लग सकती है ऐसी वह सत्ता है। वह नाम में है, अनामी भी है, और नाम–अनाम का सवाल नहीं उठता ऐसा भी उनका रूप है। तो कहने का अर्थ यह है कि यहाँ आप आये, मौन की बातें सुनी, ध्यान की समाधि की बातें सुनीं। यह स्पष्टता इसलिये कर दी कि लोग गलत चीजों को अध्यात्म समझ लेते हैं। इस प्रकार की गलतफहमी न रहे। बुद्धि में विशदता हो, बौद्धिक और वैचारिक स्पष्टता हो, स्वच्छता हो। यदि वैचारिक शुद्धि नहीं है तो अध्यात्म केवल भावनाओं का विलास रह जायेगा। भावनाओं की आतिशबाजी रह जायेगी। एक भावुकता का प्रदर्शन रह जायेगा। उसके नीचे कोई ठोस जमान नहीं होगी। अधिष्ठान नहीं होगा। इसलिये जरूरी है वैचारिक स्पष्टता, बुद्धि की स्वच्छता निर्भ्रान्तता।

यह अधिष्ठान है अध्यात्म का। On the basis of confusion, chaos and anarchy spirituality can never exist.

विज्ञान के लिये सफाई करनी पड़ती है। तो बुद्धि की सफाई मैं कर रही थी। हमारे मन में विचित्र कल्पनायें हैं, थोड़ी किसी मार्ग से साधना की, थोड़ा नाद दिखा, थोड़ा कोई दृष्टांत हुआ, प्रकाश दिखा तो मान लिया हम पहुँच गये। अरे भाई! वह तो अनुभूति है। अनुभूति मन के द्वारा

होती है। सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा होती है। वहाँ अनुभूति लेनेवाला अनुभोक्ता है। अनुभव नाम की घटना है, भूतकाल के साथ उस को जोड़ फर के उस का अर्थघटन किया जाता है। उस के साथ उस की प्रतिक्रिया होती है। यह होने के लिये केन्द्र में यदि अहङ्कार न बैठा हो तो सम्भव नहीं है।

बचपन में सन्तों के आसपास घूमना, जाना, देखना यह छंद रहा। उस में से एक सन्त थे श्री तुकड़ोजी महाराज, महाराष्ट्र में। कभी उन को कहते सुना कि 'विषयानन्द' और 'ब्रह्मानन्द' एक ही हैं, तो मैं घबड़ा गई। स्कूल में पढ़ती थी। मैं ने कहा 'यह क्या कहा ?' उन्हों ने कहा कि यह जो सुख होता है, उस की अनुभूति लेनेवाला मन है। अनुभव लेने की जहाँ शक्यता है वहाँ आप मन के स्तर पर हैं। वह अनुभूति दैहिक हो, इन्द्रियों की हो, अतीन्द्रिय हो। वहाँ लेनेवाला बैठा है। उस का मूल्यांकन करनेवाला, उस को 'मेरा अनुभव' कहनेवाला बैठा हुआ है। अहङ्कार का यह सूक्ष्म बनना, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम बनना ठीक है, अच्छा है, लेकिन वह सूक्ष्मतम बनकर भी एक ग्रंथि के रूप में बैठा रह सकता है।

अध्यात्म के साथ पता नहीं कितनी चीजें, कितने चमत्कारों की भावना जुड़ी हुई है। मुझे इतना ही कहना था कि इन चमत्कारों का, अतीन्द्रिय शक्तियों को जगाने का, अनुभूतियों को प्राप्त करने का अध्यात्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सब भौतिक पार्थिव और मानसिक क्रियायें, प्रक्रियायें हैं। इन में जिन्हें मजा आता हो तो करें। लेकिन उसको अध्यात्म न कहें। इतनी एक वैचारिक विशदता के लिये खोल-खोल कर बातें आप के पास रखी हैं। आप को जिस का अभ्यास हो, जिस में रस हो, जिस में रुचि हो, करते रहें।

चौथा मुद्दा है मेरा—कि हम वापस जायेंगे संसार में। यहाँ का वातावरण अलग था, वहाँ का वातावरण अलग है, कैसे टिकेगी यह चीज? यह टिकेगी यदि संकल्प का बल होगा। केवल इच्छाओं से काम नही चलेगा। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' पहले जिज्ञासा हो। वह जिज्ञासा जगदम्बा यदि हृदय में आ कर के बैठ गई है तो घर लौटने पर आप कह सकते हैं अपने आप से, अपने परिवार से कि चौबीस घण्टों में से यह एक घण्टा या ड़ेढ़ घण्टा मैं ने प्रभु को समर्पित कर दिया है। अकेला बैठूंगा, ग्रंथ पढूंगा, भजन गाऊंगा, जप करूंगा। जो भी है, लेकिन मेरे और परमात्मा के बीच उस समय दुनिया नहीं होगी, ससार नहीं होगा, परिवार नहीं होगा। उस एक घण्टे के लिये मुझे तदात्मता में जाने दो। ऐसा एक-घण्टे-डेढ़ घण्टे का समय निकाल लिया जाय। अरे, निद्रा के

लिये निकालते हैं सात–सात, आठ–आठ घण्टे, गप्पें मारने के लिये निकालते हैं, सिनेमा–नाटक देखने के लिये निकालते हैं, इसके लिये नहीं निकल पाता है ? तो यह चीज टिकेगी यदि सङ्कल्प होगा कि चौवीस घण्टे में से एक–दो घण्टे संसार की जो गंगोत्री है, जिस सत्ता पर यह संसार नाम के तरंग उठे हैं, अनेकता के, विविधता के, उस सत्ता के साथ मैं रहूँ। मैं सभी उपाधियों से, जिम्मेवारियों से एक घड़ी भर के लिये हट जाऊँ। उस एकांत में मौन होगा। यह यदि किया जाय तो मैं मानती हूँ कि परिवार या आप की जो जीवनपद्धति है उस में कोई बहुत बड़ा विघ्न नहीं आयेगा। लेकिन हाँ, घर जाकर के आतंक मत फैलाइयेगा। "एक घण्टे के लिये बैठना है इस के लिये यह सुविधा कर दो, वह सुविधा कर दो। बच्चों को हटा दो"। अध्यात्म के नाम से आतंक नहीं फैलाना। सहजता से किया जाय और चुपचाप जो समय अपने लिये अनुकूल हो वह निकाल लिया जाय।

उससे इतना ही होगा कि जीवन में एक संतुलन पैदा होगा। यहाँ पाई हुई चीजे नहीं टिकेगी ऐसा भय लगता है क्योंकि भीतर असंतुलन हैं। क्योंकि आदतें हैं। शरीर की आदतें बन गई हैं। मन की आदतें बन गईं। जबान की आदतें बन गई हैं तो हमें शब्द जितना प्रिय है उतना मौन प्रिय नहीं लगता। शब्दों का नशा आता है। लेकिन शब्दों के किनारे छोड़ दिये हैं, नाद सो गया है, उस नादमुक्त नीरवता में जो जीवन का सत्त्व है उस को चखने का अभ्यास नहीं है। तो फिर बैठते हैं और मौन में मजा नहीं आता। वह जो मौन है, जो शून्य है वहाँ जीवन उतना ही सघन है, कूटकूट के भरा है, जितना शब्द में जीवन है। यह बात समझ में आयेगी तो फिर आप मौन में बैठेंगे। फिर संतुलन आयेगा। आज जो शब्द निकलते हैं वे अपंग, लूले–लँगड़े निकलते हैं। निष्प्राण, निस्तेज निकलते हैं। क्योंकि शब्द को मौन का रस पीने का कभी अवसर नहीं मिलता। वह अवसर मिलेगा और आप की शब्दसृष्टि भी तेजस्वी बन जायेगी। इसलिये शब्द और मौन दोनों का सन्तुलन पैदा कर दीजिये। सम्बन्धों में रहिये लेकिन सम्बन्धों में आघात–प्रत्याघातों में मन जब थक जाता है तब हार ही मान लेता है। और सम्बन्धों के बिना तो मुक्ति सम्भवित नहीं है। सम्बन्धों में ही मुक्ति का विकास हो सकता है : एकांत में मुक्ति का क्या प्रयोजन है ? और क्या उसकी संभावना है ? तो सम्बन्धों में रहते हुए, संबधों के परे ही आप का रूप है। एकांत में बैठिये न कभी ! निद्रा के समय? आप सोते हैं तो क्या आप हिन्दू हैं, मुसलमान हैं गुजराती हैं, पंजाबी हैं, ब्राह्मण हैं,

क्षत्रिय हैं, पुरुष हैं, स्त्री हैं ? नहीं निद्रा में आप की ये सब उपाधियाँ छूट जाती हैं । आप अभ्यास करने के लिये बैठेंगे तो खुद को छोड़कर बैठेंगे । तो उपाधियों के आवरणों को अलग हटा कर के जो अनावृत स्वरूप है अपने आप का जो खालिस होनेपना है अपना, उसके साथ बैठिये । यह एकान्त हुआ । इस एकान्त का आप का भय निकल जायगा, एकाकीपन का भय निकल जायेगा, मृत्यु का भय निकल जायेगा । तो वह असंतुलन गया । सम्बन्धों में भी आनंद है और कोई सामने नहीं, अकेले हैं तो भी आनन्द है । बोलने के लिये कोई है तो बोलने में आनंद लें, शब्द व्यापार में । कोई नहीं है, तो मौन में आनन्द है । सन्तुलन आ जायेगा । आज गति करते रहते हैं । क्रियाग्रस्त-क्रियाव्यस्त शरीर की, मन की, वाणी की, बुद्धि की कोई न कोई क्रिया न करे तो मनुष्य घबड़ा उठता है । तो जो गतिमुक्त स्थिति है उस में बैठने का आप अभ्यास करेंगे तब गति में भी आनंद है और गति के बिना भी आनंद है । मेरे मित्रो ! सन्तुलन में बड़ा आनंद है । बड़ा प्रसाद है जीवन का ।

'अर्जुना ! समत्व चित्ताचे हेचि सार योगाचे' ।

हे पार्थ ! योगशास्त्र का सार इतना ही है, कि चित्त का समत्व बना रहे सम्बन्धों में । तो आप घर जायेंगे, यदि घड़ी-दो घड़ी ऐसा समय निकालते हैं तो हो सकता है आठ-नौ महीने में, बारह महीने में ऐसी एक क्षमता पैदा होगी कि फिर बैठना नहीं पड़ेगा । फिर उठते-बैठते लोगों के साथ व्यवहार करते हुए भीतर की चित्त की शांति, प्रसाद, सन्तुलन कायम रहेगा । फिर नहीं बैठना पड़ेगा ।

अभ्यास के लिये समय देना पड़ता है । सातत्ययोग चाहिये । चार दिन किया और दो दिन छोड़ दिया, पाँच दिन किया और दस दिन छोड़ दिया—इस से नहीं होगा । अप्रमत्तयोग है । प्रमादरहित होकर, सातत्ययोग से अभ्यास करेंगे तो चीज़ बनेगी, क्यों नहीं बनेगी ?

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते' ।

अभ्यास चाहिये, वैराग्य चाहिये । आप कहेंगे कि बहन लायीं वैराग्य बीच में । लेकिन वैराग्य का अर्थ समझ लीजियेगा । विशेष अनुराग वैराग्य है । जीवन का जो सत्य समझना है, परमात्मा की जो उपलब्धि करनी है, अपने स्वरूप को पहचानना है इस के प्रति विशेष अनुराग हो जाय तो विषयों के प्रति विराग अपने आप हो जाता है ।

'माझिये ठायीं अनुरक्ति हेचि विषयीं विरक्ति' ।

सन्त एकनाथ महाराज कहते हैं। मेरे विषय में अनुरक्ति ही विषयों के प्रति विरक्ति में निष्पन्न होती है। विषयों के प्रति विरक्ति या उदासीनता स्वयं निष्पन्न होगी। Bypryduct है वह। उस को मूल साध्य बनाकर के पीछे दौड़ने लगेंगे तो जीवन-विमुख बन जायेंगे। मानव-विमुख बनेंगे। समाज-विमुख बनेंगे। वैराग्य आनुषंगिक सिद्धि है, ध्येय नहीं है जीवन का।

इससे होगा क्या? आत्मकृपा करने की क्षमता आयेगी। और किसी की कृपा की याचना करते हुए घूमना नहीं पड़ेगा। मैं यह कह रही थी कि यह तब साध्य होगा, सहज ही उपलब्ध होगा, क्यों कि आपके, मेरे भीतर वह जो भगवत् सत्ता की दिव्यता है वह एक ही है। दिव्यता से रहित कोई नहीं।

अंतिम मुद्दा कह दूँ—कि क्यों है ऐसा समाज, आत्मसत्ता इतनी व्यापक होते हुए? अपराधी हम हैं। मनुष्य जाति अपराधी है। भारत वर्ष के लिये बात करूँ, बाहर की बात छोड़ दूँ। क्या किया हमने? हमने यह किया कि—'यह जीवन भौतिक है, वह धार्मिक है, वह आध्यात्मिक है। और यह संसार है यह माया है, यह मिथ्या है। देह अपवित्र है। स्त्री नरक की खान है। ये विषय जो हैं, नर्क हैं'।—ऐसे एक dicotomy पैदा कर दी जीवन में। विरोध पैदा कर दिया। जीवन का विभाजन किया और यह जो पाञ्चभौतिक विश्व है इस के प्रति उपेक्षा, वितृष्णा, त्याज्य-भावना पैदा करने का सिलसिला पीढ़ी दर पीढ़ी चलता आया। उपेक्षा तो हो नहीं सकती, चित्त में पड़ी है तृष्णा। शरीर की रचना में गुंथे विकार स्वयंभू हैं। They are engraved in the biological structure। इसलिये पाखंड आ गया। वह पदार्थों का जगत् आकर्षित करता है और बुद्धि से लादते हैं उस पर विरति। हमारे पतन का यह एक कारण है जो हमने विरोध पैदा कर दिया है, व्यवहार और परमार्थ की अलग-अलग सत्तायें मानता हैं।

दूसरी चीज़—हमने जिनको हरिजन कहा उनको वेदों के और ज्ञान के अधिकारी नहीं माना। ब्राह्मण वर्ण के पास ज्ञान रहा। क्षत्रिय के पास ज्ञान रहा। स्त्रियों को तो माना ही नहीं उसकी अधिकारी, और शोषण किया है। पुरोहित वर्ग ने शोषण किया है। चाहे जैसी मान्यतायें भर दी हैं। ऐसा एक प्रामाण्यग्रस्त अधिकारवाद से ग्रस्त मानस पैदा किया। उसके द्वारा यही माना-कहा गया कि तुम हमारे शरण में आओ तो मुक्त होगे। पंगु बन गये हैं मन और बुद्धि। आज भारत की बहुसंख्य जनता ने यही मान लिया है कि कोई उद्धारकर्ता आयेगा, उनका उद्धार करेगा।

ऐसे पाखण्ड के कारण भ्रष्टाचार आया कि आर्थिक जीवन में पाप करो, तस्करी करो, काला बाज़ार करो, लेकिन यदि मंदिर–मठ में लाखों का दान करते हो तो पुण्यशाली बनोगे। समाज में प्रतिष्ठा होती है। इन दो चीजों को हटाना पड़ेगा। यह परिस्थिति नियति की पैदा की हुई नहीं है। मनुष्य की पैदा की हुई परिस्थिति है। इसलिये शुद्ध आत्मसत्ता का निरूपण करनेवाले, मनुष्य मात्र की समता का, स्वाधीनता का, भाईचारे का निरूपण करनेवाले सन्त कह गये —'અખિલ બ્રહ્માંડમાં એક તું શ્રીહરિ, જૂજવે રૂપે અનંત ભાસે' यह कहनेवाले नरसी मेहता, मीरा दादु और तुलसी, दयाराम और केशव, प्रीतम, प्रेमदास कोई कम नहीं हुए हैं। लेकिन उनका जो जीवन है उस को समाज की ऐसी मान्यता नहीं मिली, कि ये जीवन के सामाजिक मूल्य हैं। व्यक्तिगत सिद्धियाँ मानली गयीं। यह समता का भाव, यह अहिंसा की शक्ति, यह मानव-मात्र के लिये भक्ति जो सन्तो ने, सिद्धों ने कही उसे सामाजिक मूल्य नहीं बनाया गया।

इससे आगे बढ़ना है हमें। आप और हम जो साधना करेंगे उसमें हमारा प्रत्येक कदम, समाजपरिवर्तन की प्रक्रिया की एक कड़ी है। जिसका सामाजिक मूल्य है। चित्त को अभय बनाना भी व्यक्तिगत सिद्धि के लिये नहीं, नवमानव के सर्जन के लिये है। यह हमारी दृष्टि आज तक नहीं थी भाई! इसलिये आत्मा की सत्ता और अध्यात्म की साधना का जीवन के साथ अनुबंध हो, तभी जिस बात से आपको और मुझ को दुःख है वह समाप्त हो सकेगी।

आप किसी प्रकार का भार लेकर न जायें। सत्संग शिबिर में से निर्भार बनकर जाइयेगा, सहज-सहज जितना होगा उतना होने दीजियेगा। अपने सम्पर्क बिन्दु को पहचान कर वहाँ से चलियेगा। ऐसे सत्सङ्ग शिविर, चेतना को सम्प्रदायमुक्त बनानेवाले, परमार्थ और व्यवहार का जो कल्पित विरोधाभास है उस को हटानेवाले शिविर भारत में जगह–जगह हों और भारत के नागरिक ऐसे सत्सङ्ग से अपने में फिर एक बार नवजागरण पैदा करें ऐसी प्रभु के पास प्रार्थना करती हूँ।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवम्
तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकम्
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
ॐ ऽऽऽऽऽ हरिः ॐ ऽऽऽऽऽ
॥ हरिः ॐ तत् सत्॥